॥ ओ३म् ॥

वैदिककवितायाः लोकसांस्कृतिक-काव्यधारा

(अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः विशेषपरीप्रेक्ष्ये)

पी.एच्.डी. संस्कृतस्य उपाधये

प्रस्तुतोऽयं

शोध-प्रबन्धः

शोधनिर्देशकः
डॉ. विश्वबन्धुः ,
संस्कृतभाषा एवं साहित्यविभागः

शोधार्थी
आशीषकुमारः
पी.एच्.डी.- संस्कृतम्
नामाङ्कनसङ्ख्या- **En16-00016**

भाषा साहित्य एवं कला प्राध्ययन केन्द्र
साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय
साँची, रायसेन (म.प्र.)

२०२१

<u>शोधार्थी द्वारा घोषणा-पत्र</u>

मैं एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि यह शोधकार्य **"वैदिककवितायाः लोकसांस्कृतिक – काव्यधारा (अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः विशेषपरीप्रेक्ष्ये)"** डॉ. **विश्व बन्धु** (सहायक प्राध्यापक, संस्कृत भाषा एवं साहित्य विभाग) के मार्गदर्शन में पूर्ण किया है ।

मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार इस शोध-प्रबंध में किसी भी प्रकार का कोई ऐसा तथ्य उद्धृत नही किया गया जो इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय के समक्ष किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया हो ।

साथ में यह भी घोषणा करता हूँ कि -

१- मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम २०१८ के मापदण्डों के अनुसार एक सत्र का कोर्स वर्क सफ़लतापूर्वक पूर्ण कर लिया है ।

२- मैंने शोध-प्रबंध अंतिम रूप से जमा करने से पूर्व विभागीय शोध समिति के समक्ष प्रस्तुति भी दी है और दिए गये निर्देशों / सुझावों के आधार पर संशोधनों को सफलतापूर्वक शामिल किया है ।

३- मैंने राष्ट्रीय संगोष्ठी मे शोध-प्रबंध से सम्बन्धित दो शोध पत्र भी प्रस्तुत किया है जिसकी छायाप्रति शोध-प्रबंध के अन्त मे संलग्न है ।

४- मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबंध में कोई भी सामग्री, किसी अन्य शोध से या किसी प्रकाशित समग्री का हिस्सा नहीं है, यदि Plagiarism के अन्तर्गत कोई भी सामग्री पायी जाती है तो उसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी रहूँगा ।

स्थान................ शोधार्थी हस्ताक्षर

दिनांक...............

आशीष कुमार

(साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.)

<u>प्रमाण-पत्र</u>

यह प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध-प्रबंध जिसका विषय **“वैदिककवितायाः लोकसांस्कृतिक – काव्यधारा (अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः विशेषपरीप्रेक्ष्ये)”** श्री आशीष कुमार द्वारा किया गया शोध कार्य है, जिसे साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय में पी.एच.डी.- संस्कृतम् उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया है।

मेरी जानकारी के अनुसार

१- यह शोधार्थी का मौलिक कार्य प्रतीत होता है।

२- यह शोध कार्य यू.जी.सी. के दिशा निर्देशों को पूरा करता है।

३- विश्वविद्यालय की पी.एच.डी. से सम्बन्धित अध्यादेश की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

स्थान...........

हस्ताक्षर

दिनांक.........

डॉ. विश्वबन्धु

शोध निर्देशक

प्रमाण-पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध-प्रबंध जिसका विषय "**वैदिककवितायाः लोकसांस्कृतिक – काव्यधारा** (अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः विशेषपरीप्रेक्ष्ये)" श्री आशीष कुमार द्वारा किया गया शोध कार्य है, जिसे साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय में पी.एच.डी.- संस्कृतम् उपाधि हेतु **डॉ. विश्वबन्धु** के निर्देशन में परिपूर्ण कराया गया है।

मेरी जानकारी के अनुसार

१- यह शोधार्थी का मौलिक कार्य प्रतीत होता है।

२- यह शोध कार्य यू.जी.सी. के दिशा निर्देशों को पूरा करता है।

३- विश्वविद्यालय की पी.एच.डी. से सम्बन्धित अध्यादेश की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

स्थान...........

दिनांक.........

हस्ताक्षर

डॉ. देवेन्द्र सिंघ

विभागाध्यक्ष

<u>सर्वाधिकार</u>

मैं, आशीष कुमार एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि साँची बौद्ध-भारतीय-ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, रायसेन द्वारा इस शोध-प्रबंध **“वैदिककवितायाः लोकसांस्कृतिक – काव्यधारा** (अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः विशेषपरीप्रेक्ष्ये)” को शैक्षणिक/अनुसंधान उद्देश्य से इलेक्ट्रॉनिक या प्रिंट प्रारूप में उपयोग के अधिकार होंगे।

नोट – शोधार्थी अथवा अन्य के द्वारा शोध-प्रबंध के आँकडो/ निष्कर्षों का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से किया जा सकेगा, बशर्ते कि यथा स्थान विश्वविद्यालय के सर्वाधिकार का उल्लेख किया जाए।

शोधार्थी हस्ताक्षर

स्थान................

दिनांक...............

आशीष कुमार

(साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.)

कार्तज्ञपुष्पाञ्जलि

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

सर्वप्रथम मैं परमपिता परमेश्वर को नमन एवं वन्दन करता हूँ जिनकी कृपा, दया एवं आशीर्वाद से ही मैं इस शोध - प्रबन्ध को पूर्ण करने में सफल हुआ हूँ । मैं साक्षात्कृतधर्मा समस्त ऋषियों, मुनियों, एवं गुरुओं को भी प्रणाम करता हूँ जिन्होने वेदों के शुभ्र प्रकाश से समस्त विश्व का मार्ग प्रशस्त किया । इसी क्रम में मैं सम्माननीय **व्याकरण एवं दर्शनाचार्य परम्पूज्य गुरुवर आचार्य श्री जगद्देव नैष्ठिक (स्वामी ऋतस्पति परिव्राजक) जी,** बुधैः परम्परा को आगे बढाने वाले **आचार्य श्री सत्यसिन्धु जी,** तथा **अचार्य श्री योगेन्द्र याज्ञिक जी, श्री आचार्य उमेश जी,** को भी प्रणाम करता हूँ, जिनके शुभ आशीर्वाद एवं कृपा से मैं इस योग्य हो पाया की शोध जैसे महनीय कार्य के लिये तत्पर हो सका ।

मैं अपने पूज्य पिता- **श्रीमान् लक्ष्मी कान्त**, एवं माता- **श्रीमती इन्द्रावती देवी जी** के चरणों मे सादर नमन पूर्वक चरण स्पर्श के साथ प्रणाम करता हूँ ।

प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध अत्यन्त श्रमसाध्य एवं लगन का कार्य था । जिस के लिए एक निश्चित योजना एवं मार्गदर्शन की महती आवश्यकता थी । यह शोध- कार्य मेरे स्वयं के सामर्थ्य से पूर्णता को नही प्राप्त हो पाता । इस शोध-प्रबन्ध कार्य को पूर्ण कराने में मेरे शोध-निर्देशक पूज्य गुरुवर **डॉ. आचार्य श्री विश्वबन्धु जी** का सानिध्य व आशीर्वाद सदैव पद-पद पर मुझे प्राप्त होता रहा है, जिससे मेरा शोध-प्रबन्ध सफलता पूर्वक पूर्ण हो सका । अतः मैं पुज्य गुरुवर को कृतज्ञता पूर्वक चरणस्पर्श व नमन करता हूँ । **सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय** की भावना को अपने जीवन में आत्मसात करने वाले संस्कृत एवं वैदिक अध्ययन विभाग के विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक आदरणीय **आचार्य डॉ. श्री देवेन्द्र सिंह जी** का मेरे शोध कार्य की पूर्ति में महनीय योगदान रहा है । किसी भी स्थिति से त्राण करने की सङ्कल्पना गुरुवर के प्रत्येक

शब्द में देखने को मिलता है। जिसके अनेक अवसरों का मैं स्वयं साक्षी हूँ। अतः श्रद्धेय विभागाध्यक्ष महोदय जी के प्रति कृतज्ञ हूँ तथा धन्यवाद के साथ प्रणाम भी करता हूँ । इसी क्रम में आङ्ल भाषा के विभागाध्यक्ष वरिष्ठ अध्यापक समादरणीय **डॉ. श्री नवीन मेहता जी** वैकल्पिक विभागाध्यक्ष आदरणीय **डॉ. प्रभाकर पाण्डेय जी** दर्शनविभाग के विभागाध्यक्ष आदरणीय **डॉ नवीन दीक्षित जी** हिन्दी विभाग के बिभागाध्यक्ष आदरणीय **डॉ. राहुल सिद्धार्थ जी** योग विभाग के विभागाध्यक्ष आदरणीय **श्री डॉ. उपेन्द्रबाबू खत्री जी** तथा विश्वविद्यालय के समस्त अध्यापक एवं अध्यापिकाओं को भी धन्यवाद व सादर प्रणाम करता हूँ ।

अन्य सहयोगीयों में बड़े भ्राता **श्री अविनाश जी**, कनिष्ठ भ्राता **अजीत आर्य** एवं **मनोजित् आर्य**, तथा **सह-धर्मिणी बन्दना** और **भगिनी अर्चना आर्या** मित्रों में **अजीत, दीपक तिवारी, जितेन्द्र आर्य, अनिल आर्य, चारु सिन्हा, विकास आर्य, संदीप, नितिन कुमार गावकरे, नितेश कुमार मिश्र, कल्लू शर्मा, राजेश रञ्जन त्रिपाठी, दीपक आर्य, चन्द्रप्रकाश , शिवराज, सन्तोष, दीपक आर्य, आकश आर्य, आनन्द कुमार, धुरन्धर, अनिलदेव, गौतम आर्य बलराम आर्य, प्रकाश रञ्जन,** आदि समस्त प्रिय मित्रों को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ । जिनके सहयोग से यह शोध-प्रबन्ध सम्पन्न हो सका ।

साँची विश्वविद्यालय में ग्रन्थालय विभाग के **अमित ताम्रकर जी, हरीश असाटी जी** एवं **प्रकाश मुकाती जी** महोदय का मुझे ग्रन्थ उप्लब्ध कराने में महनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। अतः ग्रन्थालय विभाग सहित विश्वविद्यालय परिवार के प्रत्येक सदस्य को आभार ज्ञापित करता हूँ, जिन्होने मुझे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया ।

धन्यवाद

आशीष कुमार

(पी.एच.डी.- संस्कृतम्)

साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.साँची,रायसेन

सङ्केताक्षरसूची

अ.	अष्टाध्यायी
अ.शौ.सं.	अथर्ववेदः
ऋ.	ऋग्वेदः
का.प्र.	काव्यप्रकाशः
गो.ब्रा.	गोपथब्राह्मणम्
तै. ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
धा.पा.	धातुपाठः
ना. शा.	नाट्यशास्त्रम्
निरु.	निरुक्तम्
पा.शि.	पाणिनीयशिक्षा
म. भा.	महाभारतम्
मनु.	मनुस्मृतिः
मुण्ड.	मुण्डकोपनिषद्
यजुः	शुक्लयजुर्वेदः
वा.रा.	वाल्मीकिरामायणम्
शब्द.	शब्दकल्पद्रुमः
शत.ब्रा.	शतपथब्राह्मणम्
सा. द.	सहित्यदर्पणम्

अनुक्रमणिका

उपक्रमः १-३० पृ.सं.

प्रथमाध्याय: - वैदिककविता लोकसंस्कृतिश्च १ - ३४

१.१ कविताया: सामान्यरूपम्

- काव्यस्य बाह्यपक्षम्
- काव्यस्यान्तरिकं पक्षम्

१.२ वेदस्य काव्यत्वालोचनम्

- वेदस्य काव्यत्वम्
- अथर्ववेदीयशौनकसंहिताया: प्रमुखकवय:
- वैदिकछन्दसां परिचयः

१.३ अथर्ववेदीयशौनकसंहिताया: लोकसांस्कृतिक-काव्यधारा

- लोकः एवं लोकसंस्कृतेः अवधारणा
- अभिजातसंस्कृतिः एवं लोकसंस्कृतेः अवधारणा

द्वितीयोऽध्याय: - अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः लोकसाहित्यावधारणालोकेऽध्ययनम् ३५ - ८३

२.१ लोकसाहित्यम्

- अथर्ववेदीयशौनकसंहितागतानि लोकगीतानि
- लोकगीतानां शब्दगतवैशिष्ट्यदृशा भेद-प्रभेद:
- अथर्ववेदीयशौनकसंहिताया: लोकगीतानां विषयगतवैशिष्ट्यदृशा भेद-प्रभेदविचारः

२.२ **लोककथाः**

- अथर्ववेदीयशौनकसंहितान्तर्गतकथाः
- विवाहमाधाय प्रवर्तमानाः कथाः

२.३ **वेदस्याभिचारसाहित्यम्**

- मायेन्द्रजालम्
- कृत्यारूपाभिचारकर्मणां प्रयोगः
- कृत्यारूप-अभिचारकर्मणो निवारणम्
- अभिशापः
- अभिशापनिवारणम्
- यातुधानः
- पापः
- शकुनविश्वासः
- मणयः

२.४ **वैदिकप्रहेलिकाः**

तृतीयोऽध्यायः – अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां लोकभाषायाः तत्त्वानि ८४ - ९९

३.१ **शौनकसंहितायां लौकिकपदावली**

३.२ अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां साम्यविधानार्थं लौकिकोपमानानि

चतुर्थोऽध्यायः - अथर्ववेदीयशौनकशाखीयानाम् ऋषीणां लोकदर्शनम् १०० - १२५

४.१ भूलोकः

४.२ द्युलोकः

४.३ लोकातिगवस्तूनां स्वरूपदर्शनम्

पञ्चमोऽध्यायः अथर्ववेदीयशौनकसंहितानुगताः लोकविश्वासाः १२६ - १५६

५.१ अन्तरिक्षलोकाश्रितः लोकविश्वासः

५.२ पृथ्वीसम्बद्धो लोकविश्वासः

५.३ चेतनाधारितो लोकविश्वासः

५.४ वनस्पत्याधारितो लोकविश्वासः

उपसंहारः १५७ - १५९

सन्दर्भ ग्रन्थसूची १६० - १६६

परिशिष्टम्

उपक्रमः

'लोकृ दर्शने' अस्माद् धातोः घञ् प्रत्ययेन निष्पन्नस्य 'लोक'शब्दस्य धातुमूलकः अर्थः अस्ति 'भुवनम्', 'जगत्', 'जनः' च । संस्कृतसाहित्ये अयम् अन्येष्वर्थेषु अपि प्रयुक्तोऽस्ति यथाहि- १.)विश्वस्य कश्चित् भागविशेषः (स्वर्गः, पृथ्वी, पातालः, चतुर्दशलोकाश्च); २.)प्रजा; ३.) समाजे प्रचलिता प्रणाली; ४.) प्रथा रीतिर्वा; ५.) भाषायां वेदेभ्यः पृथक् साधारणो लौकिकः प्रयोगश्च ।

आधुनिककालस्य हिन्द्यां केषुचिच्च अन्यभारतीयभाषासु लोकसंस्कृतिः, लोकसाहित्यं, लोकगीतं, लोककथा, लोककला, लोकनृत्यम् इत्यादिषु सामासिकशब्देषु यः 'लोक' शब्दः तेन एको नवीनोऽर्थो गृह्यते । वास्तविकरूपेण तु एते शब्दाः आङ्ग्लभाषायाः फॉक-कल्चर, फॉक्लिटरेचर, फॉकसाँग, फॉकटेल् इत्यादिशब्दानाम् अनुवादाः सन्ति । तेषु लोकसाहित्यादिशब्देषु 'फॉक' शब्दस्य अर्थः 'लोक'शब्देन अभिव्यञ्जितोऽस्ति एतादृक्प्रयोगेषु 'लोक' शब्दस्य अर्थः 'ग्रामीणः' 'असभ्यः', 'अशिक्षितजनः' च भवति इत्याहुः केचिद् विद्वांसः, यत् सत्यं न प्रतीयते। सम्भवतः तादृशेषु प्रयोगेषु 'लोक'शब्दस्य अभिप्रायोऽस्ति स साधारणजनवर्गः यः स्वसमकालीनसमाजस्य अभिजातसुशिक्षितजनवर्गेभ्यः प्रायशः अप्रभावितो सन् परम्परागतान् जनसामान्ये च प्रचलितसांस्कृतिकमूल्यान् स्वीयदैनन्दिनाचरणेषु मानसिकाभिव्यक्तौ च सन्धारयन् जीवनं यापयति ।

'लोक'शब्दस्य इव 'संस्कृति'शब्दस्य प्रयोगोऽपि अनेकेषु अर्थेषु प्राप्यते । 'सम्' उपसर्गपूर्वात् 'कृ' धातोः 'तिङ्' प्रत्ययेन निष्पन्नस्य अस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिपरकोऽर्थोऽस्ति 'सज्जा', 'अलङ्करणम्', 'संस्कारः', 'शुद्धिः' च संस्कृतभाषायाम् । परम् आङ्गलभाषायाः 'कल्चर' शब्दस्य पर्यायवाचिन्यर्थे प्रयुक्तः संस्कृतिशब्दः अधुना एकं पारिभाषिकविशेषम् अर्थं प्राप्नोत् । 'संस्कृति' शब्दः स्वविस्तृतपारिभाषिके अर्थे आध्यात्मिक-बौद्धिक-मानसिक-भौतिकक्षेत्रेषु मनुष्याणाम् उपलब्धीनां योग्यतानाञ्च तत् समवेतरूपं बोधयति, यत् मनुष्येण समाजे निवसता एव प्राप्तम् । शोधप्रबन्धेऽस्मिन् अथर्ववेदम् आधृत्य तत्कालीनलोकसंस्कृतेः सङ्क्षेपेण विश्लेषणमेव उद्देश्यम् अस्ति ।

लोकसंस्कृतेः मुख्यानाम् अङ्गानां विभाजनं निम्नप्रकारेण कर्तुं शक्यते –

लोकसंस्कृतिः

लोकाभिव्यक्तिः लोकाचरणम्

लोकविश्वासः लोकचिन्तनञ्च लोकानुष्ठानं परम्पराश्च

लोकरञ्जनं पर्व च

वाग्माध्यमेन वागेतरमाध्यमेन

लोककलाः लोकशिल्पकलाः

लोकसाहित्यं

लोकगीतादिगेयरूपम् लोककथादि अगेयपद्यम् लोकसुभाषितानि लोकोक्तयश्च

लोकनाट्यम्

- ## अथर्ववेदे लोकसंस्कृतेः चित्रणम्

प्राचीनभारतीयसंस्कृतेः अवलोकनेन स्पष्टतया ज्ञायते इदं यत् ऋग्वेदकालादेव पृथक्-पृथक् द्वे संस्कृतिधारे युगपदवप्रवाहिते स्तः, ययोः एकाऽस्ति अभिजात्यवर्गस्य संस्कृतिः अपरा चास्ति साधारणजनवर्गस्य लोकसंस्कृतिः । अभिजात्यवर्गाणां जनाः स्वस्य शिक्षादीक्षायाः जीवनव्यवहारादीनां विशिष्टप्रणाल्या समाजे भिन्नं स्थानविशेषं प्राप्नुवन्ति । ते प्रायः कालेन समाजेन च सह स्वात्मानं परिवर्तयन्ति, प्रत्येकस्मिन् युगे च नवीनविचाराणां नूतनादर्शानां समसामयिकमूल्यानां च ग्रहणे सर्वदा अग्रगण्याः भवन्ति । अपरस्मिन् पक्षे साधारणजनवर्गः परम्पराप्राप्तविश्वासानां जीवनमूल्यानां रीतिपरम्पराणां च अनुसारेण जीवननिर्वाहे अधिकः श्रद्धावान् भवति । अस्मादेव अनयोः द्वयोः वर्गयोः मानसिकाभिव्यक्तौ अपि भिन्नता भवति ।

वैदिकसाहित्यक्षेत्रे ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदश्च प्रधानतया यज्ञयागादिप्रमुख-अभिजात्यवर्गस्य संस्कृतेः परिचायकाः सन्ति । तत्रैव अथर्ववेदः प्रमुखतया तत्कालीनलोकसंस्कृतेः परिचयं ददाति । अन्येषु त्रयेषु वेदेषु देवतानां स्तुतिद्वारा स्वर्गलोकस्य प्राप्त्यादीनाम् आध्यात्मिकपरलोकसम्बन्धिविषयाणां प्राधान्यमस्ति परम् अथर्ववेदस्य मन्त्रैः संसारेऽस्मिन् सामान्यजनानां जीवनं सुखमयं कर्तुं ऐहिकफलदायकानां विषयाणां प्रधानता वर्तते । मनुष्यस्य जीवनं सुखि निरोगं च स्यात्, संसारे इच्छितवस्तूनां प्राप्तिर्भवेत्, शत्रुः

विनश्येत्, विघ्नबाधानां निवारणं स्यात् इत्यादिविषयान् आधृत्य अथर्ववेदे देवतानां स्तुतिः विहिताऽस्ति ताः देवताः इष्टफलप्राप्तये प्रार्थिताः सन्ति । अस्मिन् नास्ति संदेहो यत् अथर्ववेदेऽपि यज्ञविधानं लभ्यते । ब्रह्मजीवसृष्टिसम्बन्धि – आध्यात्मिकविषयाणां दार्शनिकचिन्तनमपि केषुचित् सूक्तेषु प्राप्यते, परं तु तत् अन्येषां त्रयाणां देवानाम् अपेक्षया अत्यल्पम् अस्ति ।

अथर्ववेदस्य मन्त्राः विषयानुसारं स्थूलरूपेण निम्नलिखितवर्गेषु विभक्तुं शक्यन्ते-

१ भैषज्यानि (रोगाणां निवारणाय मन्त्राः)

२ आयुष्याणि (दीर्घायुप्राप्तये प्रार्थनापरकाः मन्त्राः)

३ अभिचारकाणि कृत्याप्रतिहरणानि च (यातुधानानां राक्षसानां शत्रूणां च विनाशार्थकाः कृत्याणां च निवारणार्थकाः मन्त्राः)

४ स्त्रीकर्माणि (स्त्रीकर्मसम्बद्धमन्त्राः)

५ साम्मनस्यानि (साम्मनस्यं प्रेमसभायां प्रभावः इत्यादीनां प्राप्तये मन्त्राः)

६ राजकर्माणि (राज्ञः शासकवर्गस्य च हिताय मन्त्राः)

७ पौष्टिकानि (जीवने वृद्धये उन्नतये बाधानां निवारणार्थं च विहितप्रार्थनापरकाः मन्त्राः)

८ प्रायश्चित्तानि (प्रायश्चित्तविधीनां मन्त्राः)

९ आध्यात्मिकविषयाणां दार्शनिकविषयाणां च मन्त्राः ।

१० ब्राह्मणानां श्रेष्ठताविषयकाः दानस्तुतिसम्बद्धाः मन्त्राः ।

११ अन्यविषयकाः मन्त्राः, यथा यज्ञः व्रात्यसूक्तं कुत्रापसूक्तम् इत्यादयः ।

अथर्ववेदस्य अधिकांशमन्त्राणाम् उद्देश्योपयोगिविधिविधानसम्बद्धं ज्ञानं कौशिकगृह्यसूत्रे प्राप्यते, एतच्च अस्यैव वेदस्य शौनकशाखायाः संहितया सह सम्बद्धम् अस्ति । अस्मिन् नास्ति संशीतिर्यत् मन्त्राणां प्रयोगविधीनाम् यादृक् आडम्बरसहितविधानं कौशिकगृह्यसूत्रे कृतं वर्तते तादृशः प्रयोगः एतेषां मन्त्राणां रचनाकाले अथवा तेषां संहिताकरणस्य युगे न सम्भवतः भवेत् । मन्त्रोच्चारणेन सह रोगनिवारणार्थम् ओषधिप्रयोगः इत्यादि किञ्चित्कार्यं तु अवश्यमेव स्यात् परन्तु तत् तावत् विस्तरेण न यावत् कौशिकगृह्यसूत्रे

उपदिष्टम् अस्ति । उदाहरणार्थं कौशिकगृह्यसूत्रे एकस्मिन् स्थाने ज्वरनिवारणाय विधानमस्ति यत् भिषगथर्ववेदस्य सप्तमकाण्डस्य षोडशाधिकं शतं सूक्तम् उच्चारयन् रुग्णजनस्योपरि जलसिंचनं कर्तव्यम् । परन्तु अनेन सहैव नीलवर्णे रक्तवर्णे च सूत्रे बद्ध्वा एको मण्डूकः रुग्णपुरुषस्य शयनसमीपं स्थातव्यः । मण्डूकोऽपि तादृशो भवेत् ।

अस्मिन् नास्ति संशीतिर्यत् मन्त्राणां प्रयोगविधीनाम् यादृक् आडम्बरसहितविधानं कौशिकगृह्यसूत्रे कृतं वर्तते तादृशः प्रयोगः एतेषां मन्त्राणां रचनाकाले अथवा तेषां संहिताकरणस्य युगे न सम्भवतः न भवेत् । मन्त्रोच्चारणेन सह रोगनिवारणार्थम् ओषधिप्रयोगः इत्यादि किञ्चित्कार्यं तु अवश्यमेव स्यात् परन्तु तत् तावत् विस्तरेण न यावत् कौशिकगृह्यसूत्रे उपदिष्टम् अस्ति । उदाहरणार्थं कौशिकगृह्यसूत्रे एकस्मिन् स्थाने ज्वरनिवारणाय विधानमस्ति यत् भिषगथर्ववेदस्य सप्तमकाण्डस्य षोडशाधिकम् शतं सूक्तम् उच्चारयन् रुग्णजनस्योपरि जलसिंचनं कर्त्तव्यम् । परन्तु अनेन सहैव नीलवर्णे रक्तवर्णे च सूत्रे बद्ध्वा एको मण्डूकः रुग्णपुरुषस्य शयनसमीपं स्थातव्यः । मण्डूकोऽपि तादृशो भवेत् यस्य शरीरे दूषिकासदृश्यो रेखाः स्युः । कौशिकगृह्यसूत्रे एवंविधं विधानं सम्भवतः अस्मादेवास्ति यतोहि सूक्ते मण्डूकस्य वर्णनम् अस्ति –

नमो रुराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे । नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ।

यो अन्येद्युरुभयेद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्येत्वव्रतः ।। ७/११६

एवमेव वशीकरणस्य मन्त्राणां प्रसङ्गेष्वपि कौशिकगृह्यसूत्रे वर्णितम् अनुष्ठानं द्रष्टव्यम् अस्ति – अथर्ववेदस्य तृतीयकाण्डस्य पञ्चविंशसूक्तस्य प्रथमास्त्रयो मन्त्राः अवलोकनीयाः –

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।

इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥१॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषु सङ्कल्पकुल्मलाम्।

तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥२॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता।

प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥३॥

कामस्य विषये एतन्मन्त्राणां भावार्थः एवमस्ति – यः अन्यान् व्याकुलयति सः कामः त्वां व्याकुलयतु । स्वे शयने विश्रामं मा कुरु । कामस्य यो भयानकः शरोस्ति तेन अहं त्वदीयं हृदयं विध्यामि । कामदेवस्य इषुः मानसव्यथापत्रैः युक्तो वर्तते । इच्छायाः कण्टकः विद्धः यस्मिन्, सङ्कल्पः एव यस्य दण्डः एतादृशा बाणेन त्वाम् पृहत्य कामः त्वत् हृदयं विध्यतु । कामस्य सायकः प्लीहानं शोषयति लक्ष्ये सन्निहितमस्ति, तस्य पक्षाणि अग्रे उड्डयन्ते, असौ दाहकोऽस्ति एतादृक्शाङ्र्गेण अहं त्वत् हृदयं विध्यामि । अस्य सूक्तस्य अवशिष्टानां षट्मन्त्राणां भावोऽपि एवमेव अस्ति । अस्य सूक्तस्य मन्त्राणम् उपयोगस्य अनुष्ठानस्य च विषये कौशिकगृह्यसूत्रे विधानमस्ति यत् यदि कश्चित् पुरुषः काञ्चित् स्त्रियं स्वे वशे कर्तुं कामयते चेत् असौ तत्स्त्रियाः मृत्तिकया मूर्तिं रचयति, सनतन्तुमयं धनुः तथा च कण्टकाग्रमयं शरं रचयति । बाणस्य पृष्ठस्थानीयं पक्षं उल्लूकस्य पक्षेण निर्मीयते । शरस्य हस्तः कृष्णकाष्ठस्य भवति । असौ कामः अनेनैव बाणेन तस्याः प्रेमिकायाः मूर्तिकामूर्तिं परिच्छिद्य मनः वशीकरोति । एवं कामद्वारा कामिनीहृदयस्य वेधनविषये प्रतीकोऽयम् । वशीकर्त्ता अस्य सूक्तस्य मन्त्राणाम् उच्चारणेन सह बाणेन मूर्तिवेधनस्य क्रियामपि कुर्यात् ।

अथर्ववेदस्य मन्त्राणां विषये विभिन्न-अनुष्ठानानां विधीनां च यत् स्वरूपम् अस्माभिः कौशिकगृह्यसूत्रे प्राप्यते तदुपरि सम्भवतः अस्य सूत्रग्रन्थस्य समकालीनतान्त्रिकग्रन्थानां तदनुसारं च क्रियमाणसाधनापद्धतेः अधिकः प्रभावः अस्ति । एवंविधानां तान्त्रिकक्रियाकलापानां परवर्तिभारतीयसंस्कृतौ तस्मादपि अधिको विकासोभूत् । अत एव निबन्धेऽस्मिन् कौशिकगृह्यसूत्रस्य व्याख्यां यथाशक्ति परित्यज्य अथर्ववेदसंहितायाः शौनकशाखायाम् उपलब्धमन्त्राणाम् आधारेण तत्कालीनलोकसंस्कृतेः स्वरूपस्य संक्षेपेण विश्लेषणस्य प्रयत्नो विहितोऽस्ति ।

१ लोकविश्वासः

(क) राक्षसादिदुष्टशक्तीनाम् अस्तित्वविषये विश्वासः –

प्राचीनकालादेव जनानां मनसि राक्षसपिशाचभूतप्रेतादि परामानवीयदुष्टशक्तीनाम् अस्तित्वे आतङ्कः प्रसृतोऽस्ति । अथर्ववेदस्य बहुषु मन्त्रेषु एताः दुष्टशक्तयः रोगकारणानि मन्यन्ते । उदाहरणार्थम् – गर्भस्थः शिशुर्यदि म्रियते चेत् मन्यते यत् कण्वनामधेयो राक्षसः तं निगिलितवान् इति – "गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णिः सहस्व च ।" (का.२, सू.२५, मं. ३) । अत्र पृश्निपर्णिः ओषधिः प्रार्थितोऽस्ति यत् गर्भस्य भोक्तारं कण्वं विनाशय ।

अथर्ववेदे रोगकारकाणां नैकेषां राक्षसानां नामानि प्राप्यन्ते, यथा – किमीदिन्, पिशाचः, अमीवा, पिशाची, द्याविन्, रक्षसः, मगुन्दी, अलिंशः, वत्सपः, पलालः, अनुपलालः, शर्कुः, कोकः, मलिम्लुचः, पलीजकः, आश्रेषः, वव्रिवासस्, ऋक्षग्रीवः, अस्वेशः, प्रमीलिन्, दुर्णामः, ककुभः, अरायः, प्रमृशः, अनुजिघ्रः, क्रव्यादः, करुमः, खलजः, शकधूमजः, उरुण्डः, मट्मटः, कुम्भमुष्कः, गन्धर्वः, अप्सरस्, इत्यादयः । प्रसङ्गेऽस्मिन् अथर्ववेदस्य मातृनामा सूक्तं (का.८ सू. ६) विशेषेण उल्लेखनीयं वर्तते यत्र गर्भिणीस्त्रीणां तोदयितानाम् अनेकराक्षसानां नाम्नो रूपस्य च वर्णनं कृतं विद्यते ।

पिशाचाः रोगिणः मांसं भक्षयन्ति, तथैव अत्रिणो अपि मांसभक्षिणः सन्ति । रक्षसः मनुष्यस्य सञ्ज्ञाशक्तिं हरन्ति (का. ४ सू. ३) । अप्सरसः मनुष्याणां मनांसि वशे कृत्वा व्याकुलयन्ति (का. २ सू. २ ,मं. ५; का.१९ सू. ६) । अरायाः रक्तं पिबन्ति । एता दुष्टशक्तयः प्रायः भोज्यपेयपदार्थैः सह संयुक्ताः सत्यः मनुष्याणां शरीरे प्रविशन्ति (का. ५ सू. २९) तं च मनुष्यं विक्षिप्तमनसं कृत्वा तस्य वाक्शक्तिं नश्यन्ति (का. ६ सू २-१,३) यदा कदा एताः दुष्टशक्तयः मृतकाय दीयमानस्य हविषो लिप्सया तस्य पितॄणां रूपं धारयित्वा हविः स्थानम् आगच्छन्ति । (का. १८ सू. २) । गन्धर्वेषु स्वरूपपरिवर्तनस्य अपि शक्तिरस्ति। ते स्वमायया श्वानस्य कपेः इत्यादीनाम् आकृतिं धारयन्ति अथवा मनोरमं वेशं परिधाय गृहबन्धुषु प्रविशन्ति

(का. ४, सू. ३७ मं. ११) । एतासां दुष्टशक्तीनां निवारणं मन्त्रैः ओषधीभिः देवतानां हविष्प्रदानेन च क्रियते ।

(ख) रोगाणां विषये लोकविश्वासः –

मनुष्यस्य शरीरे उत्पन्नानां विभिन्नरोगाणां तेषां कारणानां तथा च उपचारस्य विषये यावत् विस्तृतं वर्णनम् अथर्ववेदे प्राप्यते, तावत् अन्येषु त्रिषु वेदेष्वपि न लभ्यते । भारतीय-आयुर्विज्ञानस्य बहवः सिद्धान्ताः अत्र बीजरूपेण प्रसृताः सन्ति येषां पश्चात् आयुर्वेदस्य रूपेण विकासोऽभूत् । अथर्ववेदस्य पुरोहितः एकः प्रवीणो भिषक् अपि अस्ति । यस्य विभिन्नव्याधीनां सफलतापूर्वं चिकित्सितुं पूर्णं ज्ञानं अस्ति । अस्मिन् सन्दर्भेऽपि यत्रतत्र लोके प्रचलितविश्वासानां प्राधान्यम् अथर्ववेदे दृश्यते ।

अथर्ववेदस्य भिषक् ग्रामेषु, सघनवनेषु , पर्वतेषु, नदीतटेषु उत्पन्नाः ओषधीः वृक्षवनस्पतीन् च पूर्णतो जानाति । स जानाति यत् कस्मिन् व्याधौ कस्य ओषधेः प्रयोगः लाभदायको भविष्यति । एतज्ज्ञानस्य आधारेण असौ ग्रामं ग्रामं परिभ्रमन् न केवलं मनुष्यं स्वस्थं करोति अपितु गवां ग्रामीणपश्वादीनां चापि चिकित्सां करोति ।

अथर्ववेदीयभिषक् – मतेन व्याधीनां बहूनि कारणानि भवितुं शक्नुवन्ति । राक्षसपिशाचगन्धर्वाप्सरादयः परामानवीयदुष्टशक्तयः मनुष्याणां शरीरे विभिन्नरोगान् उत्पादयन्ति । तथैव विभिन्नदेवताः अपि रुष्टा क्रुद्धाः वा भूत्वा मनुष्यं रुग्णं कुर्वन्ति । अस्मादेव एतेषां रोगाणां निवारणाय तद्देवतानां स्तुतिः विधीयते । यथा तक्मन् ज्वरः वरुणस्य पुत्रो मन्यते (१.२५.३; ६.९६.२) । जलोदरोऽपि वरुणस्य हेतुना भवति । आस्रावः (Excessive flow) पर्जन्येन भवति । रुद्रः शरीरे पीडां जनयति। अभिचारकाः अपि स्वयातुविद्यया शत्रून् व्याधिग्रस्तान् कुर्वन्ति । सर्पः वृश्चिकः इत्यादयो विषयुक्ताः जन्तवः तथा च अलक्षिताः कीटाणवोऽपि मनुष्यस्य शरीरे रोगान् जनयन्ति । केचित् व्याधयः वंशानुगताः भवन्ति ये जन्मना एव प्राणिषु उत्पद्यन्ते । तथैव पूर्वजन्मनः पापकर्मभिः अथवा अस्मिन् जन्मनि एव कृतैः पापैः मनुष्यः रुग्णः भवति ।

अथर्ववेदीयभिषक् समीपं प्रत्येकरोगस्य चिकित्सा अस्ति । असौ जलस्य ओषधीनां च प्रयोगं मन्त्रैः सहैव कृत्वा प्राणीनं नीरोगं कर्तुं समर्थो भवति । अथर्ववेदे बहुषु स्थानेषु स्पष्टतः ओषधिशक्तेः अपेक्षया मन्त्रशक्तिः हविषः पुरोहितस्य वरदहस्तप्रभावः च अधिकं प्रबलाः मन्यन्ते । उदाहरणार्थं निम्नलिखित सूक्तानां मन्त्राः उल्लिख्यन्ते –

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ (२.१०.१)

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।

दक्षं त उग्रमा भारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥

हस्ताभ्यां दशशारवाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।

अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ (४.१३.५-७)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।

तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थासस्पर्शमेनं शतशारदाय ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥(३.११.१-३)

विद्म वै ते जानं यतो जायान्य जायसे ।

कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ (७.७६.५)

कस्यचिदपि रोगस्य निवारणाय जपतपयोः पूजापाठे, मन्त्रादिषु च विश्वासः लोकसंस्कृतेः एकं मुख्यम् अङ्गम् अस्ति । एतेषां सहैव उपयुक्तोषधीनां प्रयोगेण लाभः शीघ्रः भवति। लोकेषु प्रचलितचिकित्सापद्धतौ रोगस्य निवारणाय मालाविशेषः रक्षामणिश्च इत्यादयः रुग्णजनस्य

गलप्रदेशे बाहौ च बध्यन्ते इयं रीतिरपि प्रायः दरीदृश्यते। अथर्ववेदेऽपि अस्याः प्रणाल्याः वर्णनं यत्रतत्र सञ्जातमस्ति। भिषक् ओषधीनां प्रयोगः न केवलं सेवनाय लेपाद्यर्थं च करोति अपितु असौ ताः ओषधीः मणिरूपेण रुग्णस्य शरीरे बद्ध्वा अपि व्याधेः चिकित्सां करोति। उदाहरणार्थम् अथर्ववेदस्य एकोनविंशकाण्डस्य २८, २९, ३०, ३२, ३३ तमसूक्तेषु दर्भमणेः शक्तेः स्पष्टं वर्णनं उल्लिखितं वर्तते। अयं न केवलं मनुष्यं नीरोगं विदधाति अपितु तस्य शत्रून् अपि अभिभाव्य विनाशयति, धर्त्रे दीर्घायुषं प्रददाति तथा च अमूम् ओजस्विनं शक्तिमन्तं च करोति –

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्त्रपर्ण उत्तिरः।

दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नामि आयुषे॥ (१९.३२.१)

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे।

दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः॥ (१९.२८.१)

तथैव औदुम्बरमणिः (१९.३१), जङ्गिडमणिः (१९.३४), शतवारमणिः (१९.३६) अन्यैश्च ओषधीभिः निर्मिताः मणयः परिधर्तारं जनं शक्तिमन्तं तेजस्विनं नीरोगं च कुर्वन्ति।

शतवारो अनीनशद् यक्ष्यमान् रक्षांसि तेजसा।

आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णोमचातनः॥

शंगाभ्या रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः।

मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्माति तत्रति॥

ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः।

सर्वान् दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत्॥ (१९.३६.१-३)

केषाञ्चिदोषधीनां आघ्राणमात्रेणैव रोगाः नश्यन्ति।

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।

यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥

विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते।

यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ॥

उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ॥ (१९.३८)

कतिचिद् ओषधयः तादृश्यः सन्ति यासां हविर्भ्यः समुत्पन्नात् धूमात् गन्धेन च राक्षसः गन्धर्वः अप्सरसः इत्यादयो दुष्टशक्तयः पलायन्ते। अजशृङ्गी, गुल्गुलुः पीला नलदी औक्षगन्धिः, प्रमन्दिनी इत्यादीनां हविर्द्रव्यानां गन्धेन गन्धर्वः अप्सरादयः अपसरन्ति पलायन्ते वा-

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहे ।

अजशृंग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमाश्वसम् ।

गुल्गुलुः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी ॥ (४.३७.२-३)

एवम् अथर्ववेदीयभिषजः स्वीयचिकित्सापद्धतौ पूर्णः विश्वासोऽस्ति । असौ स्वमन्त्रशक्तौ तादृक् विश्वसिति यत् यदि कश्चित् यक्ष्मादिरोगपीडितो जनः अकालमृत्युं प्राप्नोति अर्थात् शतवर्षस्य आदर्शायुर्भोगात् पूर्वमेव मरणासन्नश्चेत् असौ तं यमराजसदनादपि आनयति तथा च शतवर्षं यावत् जीवनं यापयितुं तं समर्थं करोति ।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।

तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पर्शमेनं शतशारदाय ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।

इन्द्रो यथैनं शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान् छतमु वसन्तान् ॥

शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ (३.११.२-४)

रोगाणां ग्रहदोषाणां च निवारणाय नीलमपुखराजपन्नाइत्यादीनि रत्नानि मन्त्रजापेन पवित्राणि प्रभावयुक्तानि च कृत्वा अङ्गुलीयके अन्तः विधाय धारणस्य प्रवृत्तिः सम्प्रति अपि लोकप्रचलितो विद्यते । एतत् मणिशक्तविषयकविश्वासस्य एकः प्रतीकोऽस्ति ।

(ग) अभिचारकर्मसु विश्वासः –

पुराकालादेव लोकमानसे मन्त्रयन्त्राणाम् अभिचारादीनां च विषये विश्वासो वर्तते । आत्मसंरक्षणस्य भावः एव अभिचारादिप्रक्रियायाः प्रमुखा पृष्ठभूमिरस्ति । मनुष्यः स्वजीवनकाले न केवलं स्वस्य अस्तित्वं रक्षितुम् इच्छति, अपितु तस्य जीवनं सुखमयं स्यात् समृद्धम् उन्नतं च भवेत् तथा च तस्य कुटुम्बिजनाः मित्राणि अपि कल्याणमयं जीवनं यापयेयुः, एतादृशोऽभिलाषाः अपि सदैव तन्मनसि भवति । एतदेव अस्ति आत्मसंरक्षणस्य स्वाभाविकी मनोवृत्तिः । मनुष्यः प्रथमं स्वशारीरिकबलेन अन्यभौतिकसाधनेन च आत्मानं रक्षति । परं यदा तस्य एवंविधाः सर्वे प्रयासाः विफलाः जायन्ते तदा असौ अभिचारादि – अन्याधिदैविकप्रयत्नानां शरणं गच्छति । अभिचारक्रियायाः पक्षद्वयम् अस्ति – शुभः अशुभश्च । तस्य शुभपक्षः सोऽस्ति यदा मनुष्यः अन्यैः जनैः कृतानिष्टात् स्वरक्षां कामयते । तस्य अशुभः पक्षः तदा प्रकटो भवति यदा मनुष्यः शत्रविशेषस्य विनाशाय मारणमोहनोच्चाटनादिक्रियाणां प्रयोगं करोति ।

अथर्ववेदे धर्मस्य अभिचारस्य च स्वरूपं प्रायः परस्परं मिश्रितम् अभूत्। धर्मविषये वक्तुं शक्यते यत् ताः दैवीशक्तीः प्रसादयितुं सन्तोषयितुं च यज्ञयागादीनि कर्माणि क्रियन्ते यासां विषये मनुष्यो विश्वसिति - एताः शक्तयः मे जीवनं इमां प्रकृतिं च नियमयन्ति। एता एव शक्तयः इन्द्रः, वरुणः, अग्निः, शिवः, विष्णुः इत्यादिरूपेषु साकाराः भवन्ति। एता दैवीशक्तयः प्रसन्नाः सत्यः स्वभक्तेभ्यः इच्छितफलस्य वरं प्रददाति। अपरं च अभिसारस्य क्षेत्रे मनुष्यस्य मनसि केषाञ्चित् प्राकृतिकनियमानां कार्यान्वयने भ्रान्तिपूर्णः विश्वासः अवश्यमेव भवति। यातुधानस्य अयं विश्वासोऽस्ति यत् किञ्चिद् अपि कारणं स्वसदृशं कार्यम् एव उत्पादयति अथ वा कस्यचिद् अपि वस्तुनः पूर्वकाले पूर्वस्थाने वा यदि केनचिद् अन्येन वस्तुना सह सम्बन्धे भवति चेत् तस्मिन् अवच्छिन्ने सति अन्यत्र गते वा अपि असौ सम्बन्धः तथैव भविष्यति। योऽभिचारकः अभिचारक्रियां करोति तस्य दृढो विश्वासो भवति यत् इष्टफलप्राप्तिः कस्याश्चित् अपि देवतायाः प्रसन्नतायाः उपरि आधृतं नास्ति यथा धर्मविषये मन्यते, सा तु तस्य मन्त्रविद्या

–यातुविद्ययोः रहस्यशक्त्याश्रिता अस्ति। अत एव तस्य अभिचारक्रियैव सर्वदा इच्छितफलं प्रददाति पूरयति वा। यथा यातुधानो यदा शत्रोः मूर्तिं रचयित्वा तन्मन्त्रान् उच्चारयन् अमूं विच्छेदयति तस्य अङ्गप्रत्यङ्गानि भेदयति तदा तन्मनसि दृढो विश्वासोऽस्ति यत् यस्यापि सा मूर्तिः विद्यते तस्योपरि समानकार्यकारणतया तद्यातुक्रियायाः अवश्यमेव प्रभावो भविष्यति। तथैव यस्मिन् स्थाने केनचित् शत्रूणां यदि पादो धृतोऽस्ति तस्य स्थानस्य मृत्तिकां हस्तेन उत्थाप्य मन्त्रान् उच्चारयन् अग्नौ प्रक्षिप्तेन (अनया यातुक्रियया) असौ अरिः नक्ष्यति यस्य किञ्चित्पूर्वकालमेव एतन्मृत्तिकया सम्बन्धः आसीदिति यातुधानस्य मनसि प्रबलविश्वासो भवति।

अथर्ववेदीयपुरोहितः स्वमन्त्रेषु पूर्णतया विश्वसिति। असौ आयुषं कामयमानं मनुष्यं वक्ति यत् हे आयुष्कामः पुरुष! तव प्राणाः अस्मिन् शरीरे सन्तु, तव आयुः मनश्चापि अस्मिन्नेव रमताम्। विनाशकारिणी – निॠतिपाशेषु बद्धं त्वां वयं मन्त्ररूपदैवीवाग्भिः मोचयामः –

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।

उतत्वा निर्ॠत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि॥ ८.१.३

अभिचारकर्मणि जलम् अग्निश्च उभौ अपि अतिमहत्वपूर्णौ स्तः। मन्त्रशक्त्या संपृक्तं जलं शत्रोः कृते इन्द्रस्य वज्र इव प्रबलशस्त्रं सिद्ध्यति –

ये व आपोऽयामग्नयोऽप्स्वन्तर्यजुष्या देवयजनाः। इदं तानति सृजामि तान् माभ्यवनिक्षि।

तैस्तमभ्यति सृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।

तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या॥ १०.५.२०

एवं मन्त्रज्ञाता पुरोहितः शत्रोः शिरो भेत्तुं चतुष्कोणवता जलरूपिवज्रेण तस्मिन् प्रहरति –

अपामस्मै वज्रं प्रहरामि चतुर्भृष्टिं शीषभिद्याय विद्वान्।

सो अस्यांगनि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनुजानन्तु विश्वे॥ १०.५.५०

जलम् इव अग्निरपि अभिचारकस्य कृते प्रमुखं साधनमस्ति यस्मिन् हविः प्रदाय असौ शत्रुं विनाशयति। यदि शत्रुः अभिचारकर्मणि व्यापृतोऽस्ति तर्हि स स्वप्रबलमन्त्रशक्तिद्वारा अग्निं प्रार्थयन् शत्रोः कर्म विफलं कर्तुं प्रयतते।

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि मह्याम्यास्यम्।

अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः॥

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम्।

अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः॥ (१.७०.४-५)

विनाशकारिणि अभिचारकर्मणि यातुधानः कृत्यां (पुत्तलिकां गुडिया इति भाषायाम्) विरचय्य तां तृणे क्षेत्रस्थले भूम्यादिषु वा अन्ये यथा न पश्येयुस्तथा कृत्वा भूमौ कीलयेत्। अथर्ववेदीयः पुरोहितः एतत् निन्दनीयं कर्म स्वमन्त्रबलेन हविरादिभिश्च विफलीकरोति। असौ ताम् कृत्यां तन्निर्मातारम् अभिचारकं प्रहृत्य विनाशयितुं प्रेरयति। यथा बन्धनमुक्ता गर्दभी रेकन्ती (रेंकती हुई) स्वपृष्ठीयपादाभ्यां प्रहरति तथैव असौ कृत्या अपि पुरोहितस्य मन्त्रबलेन प्रहृयमाणा (सक्रिया भूत्वा) कृत्याकारा एव प्रतिगत्य प्रहारार्थं प्रेर्यते।

अपक्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव।

कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुता ब्रह्मणा वीर्यावता॥ (१०.१.१४)

प्रायो दृश्यते यत् अथर्ववेदे कृत्याकारिणः इदं कर्म अतिशयनिन्दनीयं मतमस्ति तच्च विफलीकर्तुम् एव वर्णितं चापि। अभिचारम् अशुभं वा कर्म स एव पुरोहितो निष्फलं कर्तुं शक्नोति येन स्वतपोबलेन यज्ञकर्मणा च मन्त्रसिद्धिः सम्प्राप्ता विद्यते।

(घ) सर्पविद्यायां विश्वासः

सर्पवृश्चिकादिविषयुक्तजन्तूनां दशनभयं मनुष्ये स्वाभाविकरूपेण दृश्यते। एतज्जन्तूनां विषं प्रायो मनुष्यस्य प्राणाः हरति। अत एव अथर्ववेदीयभिषजा एतन्निवारितुं विशेषं ध्यानं दत्तमस्ति। सः ओषधिभिः विषग्रस्तरोगिणं स्वस्थं करोति अपि च मन्त्रैः विषनिवारणमपि

विदधाति। असौ न केवलम् एतावदेव अपितु स नैकविधान् सर्पान् अपि विजानाति स्वमन्त्रबलेन च तान् शक्तिविहीनान् करोति अथ वा मारयति। अस्मिन् प्रसङ्गे अथर्ववेदे सर्पाणाम् अनेकजातीनां नामानि प्राप्यन्ते, यथा तरुणकः, अश्वः, परुषः, कसर्णीलः, रथर्वी, पृदाकू, स्वजः, तिरश्चिराजः, दशोनसि (१०.४), तैमातः, आलिगी, बिलिगी, उरुगूला, ताबुव, तस्तुवः (५.१३)। मन्त्रबलेन सर्पस्य शक्तिहीनस्य प्रसङ्गे षष्ठकाण्डस्य षट्पञ्चाशं सूक्तं विशेषोल्लेखनीयं वर्तते, यत्र अथर्ववेदी सर्पमुखं मन्त्रबलेन स्तम्नाति।

मानो देवा अहिर्वधीत् सतोकान्त्सहपुरुषान्।
संयतं न विष्परद् व्यात्तं न संयमन्नमो देवजनेभ्यः॥
सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू।
सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाह आस्यम्॥ ३॥

अथर्ववेदी न केवलं सर्पं शक्तिहीनं करोति अपितु तं मन्त्रबलेन हन्ति अपि

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम्॥ (५.१३.४)

सम्प्रति अपि सर्पवृश्चिकादीनां विषनिवारणाय मन्त्रशक्तौ अभिचारादौ (झाड़ फूँक) प्रबलो विश्वासो दृश्यते। ग्रामेषु अहिपालाः प्रेतबाधानिवारकाश्च मन्त्रैः विषयुक्तसर्पान् स्तम्भितान् कृत्वा स्वे वशे कुर्वन्ति।

ङ) दुःस्वप्नेन आशङ्का

अथर्ववेदीययुगस्य जनसाधारणानां मनसि दुःस्वप्नदर्शनेन भाविभयस्य मृत्युशङ्कायाः वा विश्वास आसीदिति उल्लेखः केषुचित् सूक्तेषु प्राप्यते। दुःस्वप्नानि ग्राही, निर्ऋति, अभूति, निर्भूति, पराभूतिः इत्यादीनां सन्तानाः मन्यन्ते (१६.५)। एतद्भ्रम् एतावद् दृश्यते यत् लोकमानसः दुःस्वप्नं मृत्योरेव एकम् अपरं रूपं मन्यते। विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि। (१६.५.१-२)

दुःस्वप्नभयस्य निवारणाय अथर्ववेदे षोडशकाण्डस्य पञ्चमात् अष्टमं यावत् यानि सूक्तानि तानि विशेषेण उल्लेखनीयानि।

च) शापस्य भयम्

दुःस्वप्नभयम् इव अथर्ववेदीयो जनः शापभयादपि आशङ्कितो भवति। शापः शत्रुभिः क्रुद्धब्राह्मणेन वा दत्तुं शक्यते। गृहे ईर्ष्यावशेन काचित् नारी अपरस्यै स्त्रियै अपि शापं ददाति। एतैः त्रिभिः शापैः जनः भीतः सन् तस्माद् आत्मानं रक्षितुमिच्छति –

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।

ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम्॥ (२.७.२)

मन्त्रपूतवीरुधोषधिनिर्मितमणिप्रयोगेण मनुष्यः शापान्मुच्यते। तथैव अपामार्गः सहदेवी इत्यादयः ओषधयोऽपि शापोत्पन्नां हानिं विनष्टुं समर्थाः सन्ति।

छ) पापकल्पना

पूर्वजन्मनि कृतैः पापैः मनुष्यः वर्तमानजन्मनि दुःखं भुनक्ति। परं तु अस्मिन् जन्मनि अपि कृतेन अनुचितकर्मणा असौ पापभाक् भवति। असत्यवचनं पापम् अस्ति। गर्भपातः भ्रूणहत्या अपि पापकारणं मन्यते। ब्राह्मणजायागमनं, तस्य गवां बलात् हरणं, ब्राह्मणस्य वा तोदनं इत्यादीनि महापातकानि मन्यन्ते। ब्राह्मणस्य अपहृता स्त्री स्वर्गेऽपि भयङ्करी सती दुर्गतिं करोति –

भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् (५.१७.६)

ब्राह्मणस्य तोदको राजा अपि पापभाक् भवति। तस्य राज्यं नष्टं भवति।
उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।

परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥ (५.१९.६)

जीवने ऋणं नीत्वा पुनर्न प्रतिदानेन अपि मनुष्यः पापभाग् भवति। (६.११७-११९)

पापानाम् एषां प्रायश्चित्तार्थम् अपि अथर्ववेदे केषुचित्स्थलेषु विधानमस्ति।

ज) स्वर्गनर्कयोर्कल्पना

अथर्ववेदीयेषु केषुचित्सूक्तेषु सृष्ट्युत्पत्तिः, तस्याः स्रष्टा, विभिन्नदेवतानां कल्पना तथा च तेषां प्रसन्नतायै यज्ञस्य आवश्यकता इत्यादीनि दार्शनिकचिन्तनानि तद्बीजानि च प्रसृतानि सन्ति, येषां पश्चात् उपनिषत्सु विकासोऽभूत्। एतादृक् चिन्तनं साधारणजनस्य चिन्तनक्षेत्रात् प्रकृष्टम् अस्ति। साधारणमनुष्याणां मनसि केवलं इयमेव कल्पना प्राप्यते यत् कश्चित् परमा शक्तिर्विद्यते यया सृष्टिरियं सृष्टाऽस्ति तस्याश्च सञ्चालनं करोति। देवतानाम् अस्तित्वविषयेऽपि लोकमानसे दृढ़ो विश्वासो भवति। असौ केवलम् एतावदेव चिन्तयति यत् देवतागणाः प्रसन्नाः भूत्वा मनुष्यस्य जीवनं समृद्धं कल्याणमयं सुखपूर्णं चापि कर्तुं शक्नुवन्ति तेषां च रोषेण मनुष्यस्य विनाशोऽपि भवितुं शक्यते।

अथर्ववेदकालीनो साधारणजनः मन्यते यत् मृत्युरवश्यम्भावी अस्ति, परन्तु असौ पुरोहितेन निर्दिश्यमानयज्ञयागैः तथा च तस्य ओषधिभिः मन्त्रैश्च अकालकमृत्योः आत्मानं रक्षित्वा शतवर्षाणां पूर्णजीवनस्य उपभोगः सानन्दं कर्तुं शक्नोति। यज्ञैः असौ मृत्योरनन्तरं स्वर्गलोकं गत्वा तत्रापि सुखमयं जीवनं यापयति। (४.३४) अथर्ववेदीयपुरोहितेन अत्र यज्ञयागाः एतावत् सरलाः संक्षिप्ताश्च कृताः यत् साधारणजनोऽपि तान् सुलभतया कर्तुं शक्नोति। मृतकस्य निर्दिष्टविधिपूर्वकाग्निसंस्कारादिकरणात् असौ पितृपदं लभते। असौ पितृयानमार्गेण गत्वा स्वर्गं प्राप्नोति (१८.४) अपि च तत्रापि सांसारिकजीवने प्राप्तसुखानां उपभोगं कुरुते।

स्वर्गे मनुष्याः यानि सुखानि प्राप्नुवन्ति तेषां वर्णनं ४.३४ तमे स्पष्टम् उल्लिखितं वर्तते। अत्र शरीरदाहेऽपि प्राणी स्वर्लोकं गत्वा अपरं शुचि पवित्रं शरीरं प्राप्नोति। तत्र तस्य पौरुषं न नश्यति तथा च अनेकस्त्रीणां सङ्गः प्राप्नोति –

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यान्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥ (४.३४.२)

य मनुष्यो विष्टारिन् –ओदनं पक्त्वा ब्राह्मणाय ददाति असौ मृत्योरनन्तरं स्वर्लोके यमस्य अन्यदेवतानां वा सङ्गे वसति सोमपानं चापि करोति। एतादृशो मनुष्यस्य रेतः यमो न हन्ति। तत्रापि असौ मधु घृतं दाधिधाराः कमलसुशोभिताः च पुष्करिणीः प्राप्नोति। वास्तविकरूपेण अयं विष्टारिन्- ओदनदानयज्ञः मनुष्यस्य कृते कामदुघा धेनुर्भवति। एवमेव अथर्ववेदीयऋषिमतेन स्वर्गेऽपि मनुष्यस्य लौकिकं जीवनं निर्बाधरूपेण तस्मै लभ्यते। तत्र असौ स्वपूतेन शुचिना च शरीरेण सर्वाणि सुखानि उपभुङ्क्ते। दुःखस्य क्लेशस्य वा तत्र लेशमात्रमपि नास्ति।

यथा स्वर्गस्य तथैव नर्कस्यापि कल्पना अथर्ववेदे प्राप्यते, परन्तु तत्र तस्य विस्तरेण वर्णनं नास्ति। अन्धं तमः (८.२.२४) वव्र अनारम्भणं तमः (८.४.३), अनन्तं वव्र (८४.१७) इत्यादिभिः शब्दैः नर्कस्यैव बोधो जायते। एकत्र तु “नर्कलोकः” इति शब्दस्य प्रयोगो लभ्यते।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रदुदुषे दुहे।

अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥ (१२.४.३६)

स्वर्गनर्कयोः अस्तित्वकल्पनायाः परवर्तिभारतीयसाहित्येषु विशेषतश्च पौराणिकसाहित्येषु अधिको विकासोऽभूत्। गरुड़पुराणे अस्य विस्तृतं वर्णनं प्राप्यते। स्वर्गनर्कयोः कल्पनाच्छाया अद्यापि जनसामान्यस्य मानसपटले स्पष्टतया दृश्यते।

ञ) केचिद् अन्यलोकविश्वासाः

अथर्ववेदे सन्तानस्य इच्छुकेन पुरुषेण सदैव पुत्रोऽभिलषितः –

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दश मास्यः॥२॥

पुमां सं पुत्रं जनयं तं पुमाननु जायताम्।

भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्चयान्॥३॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते।

विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव॥५॥ (३.२३)

असौ कन्याप्रसवात् एतावत्भीतोऽस्ति यत् स्पष्टतया वक्ति – कन्या क्वचित् अन्यस्य गृहे जायेत परं तु मम गेहे तु पुत्रः एव भवेत् –

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्।

स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह॥ (६.११.३)

पुरुषप्रधानभारतीयसमाजे अद्यावधिर्यावत् धारणा इयं यत् पुत्र्यपेक्षया पुत्रजनिरेव श्रेष्ठा अस्ति, सम्भवतः एवं अत एव यत् असौ पितृकुलं अग्रे नयति।

रोगस्य विषये सामान्यतः अयं लोकविश्वासः आसीत् यत् व्याधिं रोगिणोऽतिरिक्ते अन्यवस्तूनि प्राणिनि वा विक्षेप्तुं शक्यते। अत एव ज्वरं भिषक् मण्डूकोपरि क्षेप्तुम् इच्छति, (७.११६) पाण्डुरोगः पक्षिषु क्षिप्यते। (१.२२.४) अद्यापि अयं लोकविश्वासः दृश्यते यत् द्वितीये तृतीये वा अह्नि समुद्भूतो ज्वरो यदि रोगिणं न मुञ्चति, तर्हि परिजनाः यस्मिन् दिने ज्वरो भवति तस्मिन् तं रोगिणं तच्छयनात् उत्थाप्य क्वचित् अन्यप्रकोष्ठे शाययन्ति। तत्पश्चाच्च तस्मिन् शयने दण्डम् उपस्थाप्य गारुडं (टोटका) कुर्वन् ज्वरं प्रति इदं कथयन्ति यत् अद्य तु अमुकसमीपं न आगच्छ, परं त्वम् आगन्तुम् इच्छसि एव चेत् अस्मिन् दण्डे आयाहि। एवमेव अञ्जनहारी बहूनि दिवसानि यावत् स्थितो भवति चेत् जनाः गारुडं (टोटका) कुर्वन् केनचित् लौहवस्तुना चक्षुः संस्पृश्य आहुः – हे अञ्जनहारि! त्वं मां परित्यज्य अस्मिन् लौहे संगच्छ।

उड्डयतः कृष्णपक्षिणः चञ्च्वोर्यदि किञ्चित् वस्तु स्त्रंसित्वा मनुष्योपरि समापतेत् तर्हि अदः तन्मनुष्यस्य कृते अशुभं मन्यते। अनेन भाविसङ्कटस्य सङ्केतः प्राप्यते (७.६४)। कपोतस्य उलूकस्य चापि गृहे आगमनम् अमङ्गलं मन्यते। (६.२७; २९.१)। सूर्योदयसमये सूर्यास्तकाले वा कस्यचित् मनुष्यस्य शयनम् अशुभम् अस्ति।

एवं दृश्यते यत् अथर्ववेदः तत्कालीनसमाजे प्रचलितविश्वासानां धारणानां च विज्ञापकात्मकः एको बृहत्कोशोऽस्ति। एषु बहवो लोकविश्वासाः अद्यापि भारतीयजनसाधारणस्य मनसि अवस्थिताः सन्ति।

लोकानुष्ठानं जनरीतिश्च

अथर्ववेदे केषाञ्चित् लोकप्रचलितानां धार्मिकानुष्ठानामपि वर्णनमुपलभ्यते, यदाधारेण पश्चवर्तिषु गृह्यसूत्रेषु विभिन्नसंस्कारानां विकासो जातः । अथर्ववेदस्य काश्चन मन्त्रान् अवलोक्य कौशिकगृह्यसूत्रे जातकर्म, नामकरणम्, अन्नप्राशनं, गोदानं, चूडाकर्म, उपनयनमादिषु संस्कारेषु तत्प्रयोगस्य विधानं कृतमस्ति । यद्यपीदं निश्चयेन न वक्तुम् शक्यते यत् अथर्ववेदस्य संहिताकरणकालेऽपि सर्वेषामेतेषां मन्त्राणां प्रयोगः संस्कारार्थं क्रियते स्मेति। यतो हि कथितम् मन्त्रेभ्यः सूत्रेभ्यश्चास्य न कोऽप्युल्लेखः प्राप्यते । उदाहरणार्थम् – कौशिकगृह्यसूत्रे ४/३० इत्ययं सूक्तपाठः जातककर्मार्थमस्ति उक्तम् (कौ. सू. १०/१६/१९, ५७/३१) अस्मिन् सूक्ते केवलं वाग्देवताया महत्ता वर्णितास्ति । परन्तु कानिचन अन्यानि सूक्तानि मन्त्राश्च सन्ति येभ्यः ज्ञायते यत् तेषां प्रयोगः तत्कालीनसमाजे केषाञ्चिद् गृह्यधर्माणामनुष्ठानार्थं कृतो भविष्यति । यथा ६/११० इति सूक्तस्य प्रयोगस्य विषये कौशिकगृह्यसूत्रे विधानमिदं ४६/२५ यत् यदि कश्चन शिशुः अशुभनक्षत्रे जन्म लभते , चेद् तदुत्पन्नपापमकल्याणं च निवारयितुं क्रियमाणेऽनुष्ठानेऽस्य सूक्तस्योच्चारणं कर्तव्यम् पापनक्षत्रोत्पन्नस्य बालकस्य दीर्घायुषे, तेन च पापनक्षत्रोत्पन्नत्वेन यदशुभं तत्प्रभावं निराकर्तुं प्रार्थना कृता –

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात्परि पाह्येनम् ।
अत्येनं नेषद्दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥
व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः ।
स मा वधीत्पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥ अ.शौ.सं. ६/११०/२-३

तथैव बालकस्योत्पत्तिना साकमे उपरितनपङ्क्तौ दन्तद्वयं भवेत् तदा सः बालकः तज्जनकजनन्योः कृते घातको भवति। तदशुभप्रभावनिवारणार्थं कौशिकगृह्यसूत्रे अनुष्ठानमुक्तमस्ति यस्मिन् ६/१४० इति सूक्तस्योच्चारः कर्तव्यः। अस्मिन् सूक्ते अग्निः प्रार्थ्यते यत् एवंप्रकारको बालकः पित्रोः कृतेऽशुभः न भवेत्। अद्य यावदपि बालकस्य जन्मनः दन्तवत्वमशुभं मन्यते।

अथर्ववेदे द्वयोर्गृह्यधर्मयोः सविस्तारं वर्णनं कृतमस्ति - तौ च विवाहः पितृमेधश्च (मृतकस्याग्निसंस्कारः अन्यच्च क्रियाकर्म)। चतुर्दशकाण्डे सूर्यायाः विवाहस्य वर्णनं कृतमस्ति। सूर्या सवितुः पुत्री अस्ति अश्विभ्यां च सह तस्याः विवाहो भवति। अयम् आदर्शविवाहोऽस्ति, यस्य पद्धतेः रीतीनां चास्य काण्डस्य द्वयोः सूक्तयोः१३९ सङ्ख्याकमन्त्रेषु वर्णनमस्ति। अस्य त्रयो भागाः सन्ति १) अग्नेः पुरः विवाहसंस्कारः, २) उद्वाहः (वध्वाः पत्युः गृहं प्रति प्रस्थानम्) ३) चतुर्थिकाकर्म (गर्भाधानकर्म)। विवाहवर्णनाद् ज्ञायते यत् सूर्याश्विविवाहमाध्यमेन तयोर्द्वयोः प्रचलितायाः आर्यविवाहस्यैकस्या पद्धतेर्विस्तृतं वर्णनं कृतमस्ति। गर्भाधानकर्मान्तर्गतमपि अथर्ववेदिना कविना धार्मिकानुष्ठानमनुधृत्य निःसङ्कोचभावनया नूतनवधूवरयोर्मनोभावानां मनोवैज्ञानिकी स्वाभाविकी च अभिव्यक्तिर्व्यक्ता ।

सं पितरावृत्विये सृजेथां मात्रा पिता च रेतसो भवाथः।
मर्य इव येषामधिरोहयैनां प्रज्ञां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥
तां पूषांछिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या ना ऊरु उशती विश्रयाति यस्या मुशन्तः प्रहरेम शेषः॥
आ रोहोस्मुप ध्वत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥ १४/२/३७-३९

पितृमेधविषये अथर्ववेदस्य अष्टादशमे काण्डे ज्ञप्तिः प्राप्यते, यस्मिन् चत्वारि सूक्तानि सन्ति, त्र्यशीत्यधिकद्विशतं मन्त्राः सन्ति। अस्मिन् काण्डे सविस्तारं मरणासन्नव्यक्तये

करणीयान्यनुष्ठानानि, मृतकस्य अग्निदाहसंस्कारस्य तत्पश्चात् च प्रथमे, द्वितीये, तृतीये, चतुर्थे च अहनि कर्तव्यानां वर्णनं कृतमस्ति। अनेन स्पष्टतः अथर्ववेदीयकालस्य मृतकसंस्कारपद्धतेः पितृपूजनपद्धतेश्च ज्ञप्तिः भवति।

अन्यदनुष्ठानम्

अथर्ववेदीयैः ऋषिभिः जनसाधारणस्य प्रायः प्रत्येकम् अभिलाषाः आकाङ्क्षाश्च संलक्ष्य तत्प्राप्ते उपायश्चावादि। अनेकेषां सूक्तानामेवं प्रकारेणाध्ययने कृते ज्ञायते यत् इच्छितोद्देश्यानां प्राप्त्यर्थं विघ्नबाधानां च निवृत्यर्थम् अवश्यं हि कानिचनानुष्ठानान्यपि आसन्। अत्र केषांचित् मुख्यानामनुष्ठानानां च रीतीनां चोल्लेखः क्रियते –

भारतराष्ट्रं प्राचीनकालत एवैकं कृषिप्रधानं राष्ट्रं भवति। स्वजीवने कृषकस्यैका एवाभिलाषास्ति यत् भूमिः फलवती स्यात्, धान्यसम्पन्ना स्यात् भूमानां हानिप्रापयितॄणां सङ्कटानां निवृत्तिश्च स्याद्। कृषकस्य स्वाभाविकीनां कामनानां चित्रणं भूमिसूक्ते (१२.१) कृतमस्ति, यस्मिन् भूमातुः स्तुतिं कुवन् कविर्भावुको भवति। पृथिवी अस्माकं माता, वयं तस्याः पुत्राः स्मः। सा दुग्धकल्पं साररूपं जलमस्मभ्यं प्रदत्ताम् –

इन्द्रो वां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचिपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ (१२.१.१०)

कृषकः कृषिकर्मारम्भात्पूर्वं भूमिपूजावसरे निःसन्देहं सूक्तस्य अस्योच्चारणं करोति स्म, यस्य विधानं कौशिकगृह्यसूत्रेऽपि कृतमस्ति (२४.१४)। भूमौ बीजवपनावसरेऽपि कृषकः भूदेवतायाः सीतायाः स्तुतिं करोति (३.१७)। बीजेषु अङ्कुरितेषु कृषकः भयभीतो भवति यत्, मूषकादयो जन्तवः तन्नष्टं न कुर्युः इत्यादिभ्यः विपद्भ्यः रक्षार्थं सः अश्विदेवं प्रार्थयति यत् हिंसकानां मूषकानामेषां शिरच्छेदं कुरु, तेषां मुखबन्धनं कुरु, येन धान्यं नादन्तु। विपद्भ्यः रक्षार्थम् अनुष्ठानं करोति।

हनं तर्दं समङ्कमाखमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम्। यवान्नेददानमपि नह्यतं मुखमयाभयं कृणुतं धान्याय। तर्द है पतंग है जभ्य हा उपक्वस।

ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानर्हिसन्तो अपोदिवा तदीपते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे। य आरण्या व्यद्वारा ये के च स्थ व्यद्वरास्तान्त्सर्वान् जम्भयामसि॥ (६.५०)

एवम् अथर्ववेदीयपुरोहितेन निर्दिष्टः कृषकः पदे-पदे देवताः प्रसन्नं कुर्वन् स्वकीये कृषकमणि लग्नो भवति। कृषकानां समानमेव वणिजोऽपि स्वकीये वाणिज्ये लाभार्थं इन्द्रस्याग्नेश्च स्तुतिं करोति, तत्प्रीत्यर्थं च हवनं करोति (३.१५) गोपतिः गोधनस्य वृद्ध्यर्थं तस्य स्वास्थ्यलाभाय देवतानां प्रसन्नतार्थं च हवनं करोति, (२.२६)। मेधाजननम्, ब्रह्मज्ञानप्राप्तिः, वर्चसः शक्तेश्च प्राप्तिः, स्वास्थ्यस्य प्राप्तिः, शत्रुभ्यः राक्षसादिभ्यश्च दुष्टशक्तिभ्यः रक्षणम्, व्याधीनां विनाशः, पापार्थं प्रायश्चित्तम्, अशुभस्य दुष्प्रभावस्य निवारणम्, द्यूतकर्मणि विजयप्राप्तिः, सदसादिषु विद्वन्मण्डलीषु वादविवादेषु विजयप्राप्तिः, नूतननिकेतनिर्माणकार्यं तस्मिंश्च सुखसमृद्धेः प्राप्तिः, यात्रानिर्गमे निर्विघ्नता, लुप्तसम्पत्तेः शोधः, परिवारस्य जनेषु चिरं साम्मनस्यं स्याद् इति इत्थमनेकेषामुद्देश्यानां कृते अथर्ववेदे मन्त्राः सन्ति तत्प्राप्त्यर्थं च यज्ञहवनादीनामनुष्ठानानां सङ्केतः कृतः अस्ति अर्थात् सामान्यजनस्य जीवनस्य नास्ति एवमेकमप्यङ्गं काम एव सृष्टेर्मूलभूतमस्ति। कामक्षेत्रे स्त्रीपुरुषयोर्विभिन्नकामनास्तासां च प्राप्त्यर्थं तन्त्रम्, मन्त्राः, ओषधयः, हवनं, यज्ञः, ऐन्द्रजालम् आदीनां प्रयोगः - इत्यादिविषयानामुपरि विस्तृतं विवेचनं कृतमस्ति अथर्ववेदे। कामः मानवमनसः एका स्वाभाविकी मनोवृत्तिर्भवति, यस्याः महत्त्वम् ऋषिमुनिभिर्ज्ञातं सम्यक्तया। अतस्तन्मनसि संस्थापयन् स्त्रीपुरुषयोः सम्बन्धः द्वयोः स्त्रियोः परस्परं सम्बन्धः, विवाहः, गर्भाधानम्, पुंसवनम्, सुखदप्रसूतिः, गर्भपातनिवारणम्, वन्ध्यायाः कृते सन्तानोत्पत्तेः उपायः, अशक्तपुरुषे प्रजननशक्तेरुत्पादनम् इत्यादिविषयानां

कामसम्बन्धीनामुपरि सविस्तारं विचारः कृतः अन्यच्च इच्छाफलप्राप्तिः प्रीत्यर्थं चोपायाः कथिताः। नास्त्यत्र सन्देहो यत् अथर्ववेदीयानामेतेषां कामविषयकमन्त्राणां प्रभावः तत्कालीनजने मर्यादितः जातः आसीत्। कामविस्येतोऽपि अधिकं विश्लेषणमुलखर्तिषु कामविषयकेषु ग्रन्थेषु भवति।

लोकमनोरञ्जनम् उत्सवाश्च

अथर्ववेदीयानां साधारणजनानां मनोरञ्जनस्य के के उपायाः कानि च साधनानि आसन् विषयेऽस्मिन् विशेषज्ञप्तिर्न भवति अथर्ववेदीयसंहितायाम्। किन्तु यत्र कुत्रचित् एतद्विषये सङ्केतो लभते तदाधारेण वक्तुं शक्यते यत्, 'द्यूतम्' एकं बहुश्रुतं मनोरञ्जनसाधनमासीत् (७.५०.१)। द्यूतक्रीडायां ज्ञेतुं क्रीडकः अप्सरसां स्तुतिं करोति स्म (४.३८)। येन सा क्रीडा क्रीड्यते तदत्युपयोगि साधनं अक्षः, ग्लहः, कृतः इत्यादिशब्दैर्ज्ञायते स्म।एथस्पर्धा, नौकाविहारः, उद्यानभ्रमणं, सङ्गीतं, नृत्यम् इत्यादीन्यपि लोकमनोरञ्जनस्य प्रचलितानि साधनानि आसन्। सुरापानं यद्यपि निन्दितं प्रायः तथापि केषुचिदनुष्ठानेषूपयुक्तमासीत्।

पारिवारिकजीवने विवाहः, पुत्रजन्मः, उपनयनम् इत्यादयः उत्सवावसराः आसन् समाजिकजीवने यथा सामूहिकयज्ञाः, अन्यान्यनुष्ठानानि तथैव तेऽपि मन्यन्ते स्म।

४. लोक-अभिव्यक्तिः

क) कलाः हस्तकलाश्च

वाण्यतिरिक्तान्यपि माध्यमानि जनमानसः अभिव्यक्त्यन्तरं कलाः, हस्तकलाः, शिल्पकलाः इत्यादीनां समावेशो भवति। कलानामन्तर्गतं सङ्गीतम् (गायनं, नृत्यं, वादनं) अघाटिवाद्यमप्युल्लिखितमथर्ववेदे। अभिचारकर्मप्रसङ्गे कृत्या (पुतलिका) निर्माणम्, तस्या वधूसदृशं विविधैराभूषणैः सुसज्जनम् सूचयति यत्, मूर्तिकलामपि केचन जानन्ति स्मेति।

वास्तुकलाविषये राजप्रासादानां स्वरूपस्य विशिष्टं ज्ञानं न भवति, परन्तु अथर्ववेदे ९.३ सूक्ते शालास्वरूपं सविस्तारं वर्णितम् अस्ति, येन ज्ञायते यत् तत्कालेऽपि वास्तुकलायाः अपि विशेषज्ञाः आसन्। सामान्यतः शालायां द्वाभ्याम् आरभ्य अष्टौ दशं वा यावत् कक्षाः (प्रकोष्ठाः) आसन्। गवामश्वानां च कृते पृथक् पृथक् गोष्ठाः निर्मिताः आसन्। कासुचित् शालासु पुष्करिण्यः अपि आसन्। हवनस्य कृते यज्ञस्य च कृते प्रत्येकं शालायां पृथक् स्थानमावश्यकमासीत्।

प्रदेशस्य प्राकृतिकखनिजपदार्थानाम् अन्यानां च वस्तूनामाधारेण लोकप्रचलितानामुद्योगानामपि विकासः अथर्ववेदीयकाले जातः आसीत्। तन्तुवायः, रथकारः, कुम्भकारः, तक्षकः, सुवर्णकारः, लौहकारः इत्यादयः कार्यकारिणः समाजस्यावश्यकानां निर्वहन्ति स्म।

ख) लोकसाहित्यम्

लोकमानसस्य अभिव्यक्तिर्यदा वाण्या भवति तदा असौ लोकसाहित्यं जनयति। लोकगीतानि लोककथाः लोक-सुभाषितानि लोकनाट्यानि च लोकसाहित्यस्य प्रमुखानि अङ्गानि सन्ति। अथर्ववेदकाले लोकसाहित्यस्य किं स्वरूपम् आसीत् इत्येतस्य अधिकं ज्ञानं न प्राप्यते, परं तु एतादृक् साहित्यं तदानीम् अपि आसीत् अस्मिन् नास्ति संशीतिः। सूर्यायाः विवाहप्रसङ्गे गाथानाराशंस्योः उल्लेखः अस्ति –

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।

सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता॥ (१४.१.७)

गाथाः नाराशंस्यश्च सम्भवतः तत्कालीनलोकगीतानि आसन् यासु तत्कालीनवीराणां प्रशंसा वर्ण्यते स्म। विवाहस्य सुमङ्गलावसरे तथा च यज्ञकार्योत्सवे गाथानां गानप्रथा आसीत्।

देवतानाम् ऐतिहासिकपुरुषाणां चरित्रस्य वीरतापूर्णकृत्यानां च विषये वैदिककालीनसमाजे काश्चित् लोकगाथाः प्रचलिताः जाताः इत्यस्यापि बहूनि प्रमाणानि उपलभ्यन्ते। अथर्ववेदे यद्यपि एतल्लोककथानां विस्तरेण वर्णनं न कृतं तथापि तदस्तित्वस्य सङ्केत बहुत्र प्राप्यन्ते। अत्र संक्षेपेण तत्कालीनलोककथानाम् अथर्ववेदसंहितानुरूपम् उल्लेखः क्रियते -

१ इन्द्रसम्बद्धाः लोककथाः

इन्द्रपराक्रमम् आधृत्य वैदिककाले बह्व्यः लोककथाः प्रथिताः आसन्, यासु इन्द्रवृत्रयोर्युद्धः प्रमुखतमः। अथर्ववेदस्य ४.२४ तमे सूक्ते वृत्रघ्नस्य इन्द्रस्य रूपं वर्णितम्। इन्द्रस्य वृत्रस्य च युद्धवर्णनं यस्मिन् वृत्रस्य वधः इन्द्रवज्रेण अभूत् तस्य विस्तरेण वर्णनम् ऋग्वेदे सम्प्राप्यते। इन्द्रेण नमुचिदैत्यस्य शिरः जलफेनेन कर्तितम् इति इयं कथा अपि लोकप्रसिद्धा आसीत्। अथर्ववेदस्य २०-२९.३ इत्यस्मिन् तद्विषये सङ्केतोऽस्ति। इन्द्रस्य कालकांजासुरस्य अपि किंवदन्त्योऽपि प्रसिद्धाः आसन् यासां वर्णनं तैत्तिरीयब्राह्मणग्रन्थे उपलभ्यते तथा च तस्य उल्लेखः अथर्ववेदस्य ६.८०.२ इत्यस्मिन् प्राप्यते। एतैः असुरैः यज्ञवेदीनिर्मिता स्वर्गं सम्प्राप्तुं। प्रत्येको मनुष्यस्तत्र इष्टिकाः आनीत्वा स्थापयति स्म। इन्द्रेणापि तत्र इष्टिका स्थापिता। यदा त्रयोऽसुराः स्वर्गारोहणं कुर्वन्ति स्म तदा इन्द्रेण स्वीया इष्टिका अनायि येन अखिलः प्रारूपो विनष्टः। एकोऽसुरस्तु तत्रैव अपतत् परं तु अन्यौ उभावपि नभसि उड्डयितवन्तौ। तौ स्वर्गस्य श्वनौ बभूवतुः। काठकसंहितायां कथा अस्ति यत् विलिस्तेंगाभिधायिन्याः दानव्याः सौन्दर्ये मुग्धो भूत्वा इन्द्रः दानवमध्ये निवसितुम् आरब्धः। असौ तया दानव्या साकं वेशं परिवर्त्य स्त्रीरूपं धृत्वा न्यवसत्। यदा असौ दानवमध्ये भवति स्म तदा पुरुषरूपं धारयति स्म। अस्याः दन्तकथायाः सङ्केतः अथर्ववेदस्य (७.३८.२) इत्यस्मिन् प्राप्यते –

येन निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि।

तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया॥

अथर्ववेदस्य १४.१.४१ तमे अपालायाः इन्द्रस्य च कथाविषये सङ्केतः उपलभ्यते। अपाला कुष्ठरोगेन पीडिता आसीत् एकदा असौ सोमम् ओषधिं दृष्टवती ततः सा ताम् हस्ते नीत्वा दन्तैः अदशत्। तदैव तेन मार्गेण इन्द्रः समागतः। अपाला तं दृष्ट्वा सोमरसम् इन्द्राय समर्पितवती, यस्य प्रतिदानस्वरूपम् इन्द्रः प्रसन्नः सन् अपालायाः मनोकामनां साधितवान्।

२ सोमश्येनयोर्कथा

दन्तकथा इयं वैदिककाले बह्वी प्रचलिता आसीत् यस्याः उल्लेखः वेदेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु च प्रायः प्राप्यते। अथर्ववेदस्य ६.४८ तमे एतत्प्रति सङ्केतो विहितोऽस्ति। राजा सोमः बहु दूरं क्वचित् अन्यस्मिन् लोके निवसति स्म। देवताः ऋषयश्च तम् आनेतुं जगतीं त्रिष्टुप् गायत्रीं च प्रेषितवन्तः। जगती त्रिष्टुप् च मार्गमध्ये एव क्लान्ते सत्यौ व्यरमताम् परन्तु गायत्री तु उड्डयमाना सोमसमीपं समागच्छत् तथा च सोमस्य रक्षकान् भाययित्वा दूरेकृत्वा सोमं स्वीयचञ्च्वा अगृह्णात्। कृशानुनामकसोमरक्षकेण गायत्र्याः एकं पक्षं कर्तितं यत् भूम्यां पतित्वा पर्णम् सञ्जातम्।

३ अग्नेर्कथा

अग्नेः त्रयो भ्रातरः आसन् ये यज्ञकर्मणि सततं प्रयुज्यमाना क्षीणाः भूत्वा नष्टाः अभूवन्, ततः वर्तमानस्य चतुर्थाग्नेः उद्भवो जातः।

अग्निस्तुरीयो यातुहा सोऽस्मभ्यमधि ब्रवत्। (अथ. १.१६.१)

यदा चतुर्थोऽग्निः स्वस्य भ्रातृत्रयस्य दुर्दशावार्ताम् अश्रौषीत् तदा भीतः सन् पलायितवान् जलमध्ये च न्यलीयत। परन्तु देवताभिः ऋषिभिश्च जलनिहितोऽग्निः अन्वेषितः –

यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि। (अथ. १. २५.१)

तैः गृह्णीतोऽग्निः क्रुद्धः सन् जले अष्ठीवत्। अनेन जलात् त्रयः आप्त्यदेवताः समुत्पन्नाः, एकतः द्वितः त्रितश्च। देवताः स्वपापानि त्रितस्योपरि निक्षिप्य पापरहिताः अभूवन्। त्रितोऽपि तत्पापानि मनुष्यस्य उपरि निक्षिप्तवान् –

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे। (अथ. ६.११.३.१)

मैत्रायणीसंहितायाम् एतत्कथायां किञ्चित् परिवर्तनं कृत्वा एवम् उपदिष्टं यत् अग्निः जले अङ्गारं निक्षिप्य एकतं द्वितं त्रितञ्च अजनिष्ट तदुपरि देवताः स्वपापानि निक्षिप्य तेभ्यः पापेभ्यो मुक्ताः जाताः। अग्नेः एतत्त्रीणि रूपाणि पापानि तन्मनुष्ये निक्षिप्तवन्ति यः सन्ध्याकाले सुप्तः आसीत्। तन्मनुष्येन पापानि मलिनदन्तयुक्तमनुष्ये निक्षिप्तानि; ततस्तेन मलिननखयुक्तमनुष्ये निक्षिप्तानि पापानि, ततः भूयश्च तेन तानि तादृशि मनुष्ये निक्षिप्तानि येन अग्रजभ्रातुः पूर्वमेव विवाहः कृतः, तेन पुनः तानि पापानि येन अग्रजां भगिनीं परित्यज्य तस्याः अनुजभगिन्या प्रणयो विहितः; ततः पापानि तादृशि मनुष्ये अपतन् येन मनुष्यवधस्य अपराधः कृतः आसीत्, ततोऽपि निक्षिप्तानि पापानि तस्यां स्त्रियां समागच्छन् यया गर्भपातं कारितम्। ततः पापानि भूयः क्वचित् अन्यत्र न जग्मुः।

देवताः प्रमुखतया आप्त्याग्निषु त्रितस्य उपरि स्वपातकानि निक्षिप्य मुक्तिमलभन्, एवंविधाः अपि सन्दर्भाः प्राप्यन्ते, यथा उपरिलिखितस्य अथर्ववेदस्य मन्त्रे उक्तम् अस्ति। अनेन सिद्ध्यति यत् त्रितेन अवश्यमेव किञ्चित् पापं कृतं भवेत् येन असौ देवतापापानां भागी अभवत्। अस्मिन् विषये शतपथब्राह्मणात् स्पष्टीकरणं प्राप्यते। तत्र उक्तम् अस्ति यत् त्रितः इन्द्रेण साकं त्वष्टुर्पुत्रस्य विश्वरूपनामकस्य ब्राह्मणस्य वधः कृतवान् आसीत्। इन्द्रस्तु अपराधाद् अस्मात् अमुच्यत, परन्तु त्रितः दोषी सिद्धः। एवं त्रितस्य उपरि ब्रह्महत्यायाः अपराधः आपन्नः

यत्तुल्यं किञ्चित् नास्ति अन्यत् पापम् महत्। अस्याः सम्पूर्णदन्तकथायाः सङ्केताः अथर्ववेदस्य उपरिलिखितमन्त्रेषु प्राप्यन्ते।

४ सरण्यूविवाहः यमयमीसंवादश्च

सरण्यूविवाहस्य कथा यमयमीसंवादश्च वैदिककालीनजनसाधारणेषु बह्वी प्रचलिता आसीत्। वैदिकसाहित्येऽपि अस्य बहुषु स्थलेषु उल्लेखोऽभूत्। त्वष्टृपुत्रीसरण्यूविवाहः विवस्वता साकं सञ्जातम् आसीत्। सरण्यू शिशुयुगलं प्रसूतवती। ययोरेकः यमः (बालकः) यमी (बालिका) चास्ताम्। सरण्यूः स्वसदृशीं रूपवतीम् एकां स्त्रियं स्वस्थाने असादयत् तथा च स्वौ उभौ अपि सन्तानौ तस्यै समर्पयत् स्वयं च वडवारूपं धृत्वा पलायितवती। विवस्वत् इदं न जानाति स्म ततश्च किञ्चित्कालानन्तरं असौ तस्यां स्त्रियां अन्यमेकं बालकं प्रासवीत् यो मनुः आसीत्। यदा कालानन्तरं विवस्वता एतज्ज्ञातं यत् सरण्यू तु वडवारूपं धृत्वा अपलायिष्ट तदा तेनापि अश्वरूपं धृत्वा सरण्यूम् अन्वेष्टुं प्रयातम्। सरण्यूं अन्विष्य विवस्वता तस्यां पुनः शिशुयुगलं जनितम्, यौ 'अश्विन' नाम्ना विख्यातौ अभूताम्। अथर्ववेदस्य ३.३१.५ इत्यस्मिन् सरण्यूविवाहं प्रति सङ्केतः उपलभ्यते –

> **त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।**
>
> **व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥**

एवमेव अष्टादशकाण्डस्य प्रथमसूक्तस्य १-१६ मन्त्रेषु यमयमीसंवादः उद्धृतः अस्ति यस्मिन् यमी स्वभ्रात्रा यमेन साकं विवाहार्थं विनिवेदयति, परं तु यमो भातृभगिन्योः विवाहं अनुचितं पापकर्म च उक्त्वा तां सम्यक् अवबोध्य निषेधयति।

५ सूर्यग्रहणं राहुश्च

सूर्यग्रहणसमये सूर्यस्य कृष्णत्वं राहुदानवेन सूर्यग्रस्तत्वम् इत्येतयोः सङ्केतोऽपि अथर्ववेदे क्वचित् प्राप्यते। पुराणकाले इयं कथा अत्यधिकलोकप्रसिद्धाऽभूत्।

शं नो ग्रहाश्चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।

शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः। (१९.९.२)

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तयो असृजन्निरेणसः। (२.१०.८)

६ बृहस्पतिर्बलश्च

ऋग्वेदे बृहस्पतिबलयोः युद्धवर्णनं विस्तरेण उल्लिखितम् अस्ति। इयं वैदिककाले अतिलोकप्रसिद्धा घटना आसीत्। अथर्ववेदेऽपि अस्याः घटनायाः विषये सङ्केतोऽस्ति –

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः।

बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्त्रं सयामि तत्॥ (९.३.२)

बृहस्पतिः आग्ङिरसैः सह पर्वतेषु बलाभिधानस्य दानवस्य नगरीं गत्वा गोष्ठे बद्धाः गाः वारयामास। असौ इन्द्रेण सह मिलित्वा तदवरुद्धं जलं प्रवाहयामास। तदनु किल स्वस्य मन्त्रशक्त्या बलं पराजितं चकार। आङिरसानामपि इन्द्रैः सह घनिष्ठसम्बन्धो बभूव। ते सरमासाहाय्येन पक्षिनां गवामन्वेषयामासुः।

एतेषां कथनानां तात्पर्यमिदं वर्तते यद् वेदस्य विषयवस्तु मात्रं धार्मिककृत्यमेव नास्ति, अपितु लोकस्य स्वभावः सहजप्राकृतरूपं वा एतत्सर्वमपि तस्यैव विषयवस्तुनोऽपरः पक्षो वर्तते। परन्तु एतौ उभौ पक्षौ परस्परं समन्विताविव स्तः | जटिलधार्मिककृत्येषु आचार-व्यवहारस्य च वर्णनमध्ये सामान्यवर्गस्य स्वरान्वेषणाय गहनो गभीरश्च शोधोऽपेक्षितो वर्तते। एतदेव शोधस्य मूलमुद्देश्यमस्ति।

शोधकार्यमिदम् अधोलिखितानि उद्देश्यान्याधाय प्रवृत्तम् वर्तते –

(१) वैदिकभाषायां संस्कृतौ दर्शने च लोकसंस्कृतेः तत्त्वानाम् अन्वेषणम् अथ च वैदिकसाहित्ये समाजस्य सामान्य- अतिसामान्यवर्गस्य जीवनदर्शनस्य रेखाङ्कनम्। सामान्य-जनजीवनेन सह सम्बद्धां काव्य-शास्त्रीयधाराम् वेदे अन्वेषयन् एतत् प्रतिपादनीयं यत् किमपि

शास्त्रं काव्यं वा तदैव समाजे चिराय महनीयतामापद्यते यदा समाजस्य अतिसामान्यवर्गोऽपि आत्मानं तत्र लक्ष्यते।

(२) समाजस्य अतिसामान्यवर्गेऽपि दाढ्येन विश्वासोऽयमापादनीयो यत् प्राचीने मध्ययुगीनभारते च प्रचलिते साहित्ये तेषां जीवनशैली अपि निरुपिता अस्ति।

(३) लोकसंस्कृतिमाधाय प्रवर्तमाना वेदव्याख्यापद्धतिः तस्याः पुनरभिव्यक्तिश्च।

प्रथमोऽध्याय:

वैदिककविता लोकसंस्कृतिश्च

भारतीयानां सभ्यता संस्कृतिः धर्मकर्मणाञ्च भागीरथी वेदरूपगङ्गोत्र्याः एव निरन्तरं प्रवाहमाना अस्ति। सम्पूर्णा आर्यचिन्तनधारा जीवनपद्धतिश्च स्वमूलप्रेरणां वेदेभ्यः एव गृह्णाति । समग्रभारतीयसाहित्यं स्वतः परम्परया वा अस्य साक्ष्यं प्रस्तौति। शब्दराश्यात्मकाः वेदाः संहितात्वेन चतुर्धा सङ्कलिताः– ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदश्च ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता,अथर्ववेदसंहिता एताः संहिताः कवितात्मिकाः सन्ति। वेदानां कवितात्मकत्वकथनस्य अभिप्रायोऽयं वर्णनकलायाः सर्वोत्कृष्टा अवस्था 'कविता' कथ्यते। तथा च वेदस्य वर्णनकला सर्वोत्कृष्टा अद्वितीया चास्ति । यथाहि जागतिकतत्त्वानां प्रतिपादनं उत्कृष्टकोट्याः 'द्वा सुपर्णा' इत्यनेन मन्त्रेण क्रियते ।[1] अतः वेदः कविता अस्ति। अस्य कवितात्मकतायाः प्रमाणं स्वयं अथर्ववेदेनैवोपस्थाप्यते – **"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।"**[2]

अर्थात् परमात्मदेवस्य या काव्यरूपा वेदवाणी अस्ति, तां पश्य सा न कदापि म्रियते न च जीर्णा-शीर्णा भवति। अतः वेदस्य कवितात्मकता स्वतः सिद्धा अस्ति। अस्मिन् परिप्रेक्ष्ये कविता का अस्ति ? इति निरूपणीयम्

कवितायाः सामान्यरूपम्

- **कवितायाः स्वरूपम्**

मनुष्यः स्वमनसः भावान्, विचारान्, कल्पनाश्च प्रकटनाय यस्य सरलतमस्य सशक्तस्य च साधनस्य प्रयोगं करोति, तत् साधनं भाषा कथ्यते। एतानेव अन्तः करणेषु स्थितान्

---

[1] द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न् अन्यो अभि चाकशीति ॥ अ. शौ. सं.९/९/२० {दामोदर सातवलेकर भाष्य "दो आत्मा है , वे साथ रहनेवाले परस्प परम मित्र हैं | ये दोनों संसार रूपी वृक्ष पर मिल-जुलकर रहते हैं | उनमें से एक इस संसार वृक्ष का मीठा फल खता है और दूसरा न भोग करता हुआ केवल चमकता रहता है |}

[2] अ. शौ. सं. १०/८/३२

संवेदनात्मकान् मनोभावान् यदा कश्चित् कवि: कस्याञ्चित् भाषायां ग्रन्थयन् कलात्मकरूपेण अभिव्यनक्ति, तदा ते भावाः 'कविता' 'काव्यं' 'पद्यं' वा कथ्यन्ते|

वस्तुतः कविताया: सम्बन्धे एकं निश्चितं लक्षणं नैव दातुं शक्यते। यथा प्रत्येकस्या: शक्ते: भिन्नो भिन्न: स्वभाव: भिन्नं-भिन्नञ्च रूपं भवति, तथैव कविताशक्तेरपि रूपवैभिन्न्यं स्वभावानेकरूप्यञ्च भवति। तत्राऽपि भिन्ने काले, देशे च भाषायां च कविताया: प्रतिमानं परिवर्तनशीलमस्ति। यथा कानिचन एतादृशानि जातीयतत्त्वानि भवन्ति, येन स्वरूपभेदे स्वभावभेदे च सत्यपि पदार्थेषु जात्येकैव लक्ष्यते तथैव कवितायामपि स्वरूपादिभेदे सत्यपि कानिचन एतादृशानि तत्त्वानि भवन्ति येन रचना कविताया: कोट्यां स्थाप्यते।

सामान्यत: कविताया: द्वे पक्षे दरिदृश्येते – (१) गेयरूपा (२) स्तोत्ररूपा च। गेयरूपा कविता सा अस्ति यस्या: गायनं भवति। यां सामान्यरूपेण काव्यं कथ्यते। यस्यां ताल-लय-गति-यत्यादीनां समुचित: प्रयोगो भवति। या च विभिन्न-लयमाध्यमेन गीयते। सा गेयात्मिका कविता कथ्यते। स्तोत्ररूपा कविता सा अस्ति यस्याः एकलयविशेषेण पाठः भवति। अस्मिन् छन्दश्शास्त्रस्य तादृशानां नियमानां पालनं न भवति यादृशानां गेयरूपी कवितायां भवति। गेयात्मककाव्यस्यापि द्वे पक्षे स्तः। एकं स्वरूपात्मकं बाह्यपक्षम् अपरं सञ्ज्ञानात्मकम् अन्तः पक्षं स्फुरित-हृदयस्य मनोभावात्मकं तदेव आन्तरिकपक्षं कथ्यते।

प्राचीनसंस्कृतस्य आचार्याभि: काव्यस्य परिभाषाविधानावसरे अस्य बाह्यस्वरूपस्य उपरि आधिक्येन महत्त्म्यं दीयते। तथैव आधुनिकहिन्दी-आङ्गलमनीषीभि: अस्य आन्तरिक-स्वरूपस्योपरि आधिक्येन महत्त्म्यं दीयते। कवितायाः बाह्यस्वरूपस्य परिभाषां कुर्वतां परम्परागतानां प्राचीनाचार्याणां परिभाषाः निम्नप्रकारकाः सन्ति –

- **काव्यस्य बाह्यपक्षम्**

काव्यलक्षणपरम्परायारम्भाचार्यभरतमुनेः नाट्यशास्त्रात् भवति। अत्रैव सर्वप्रथमं काव्यस्य लक्षणं प्राप्यते। आचार्यः भरतमुनिः काव्ये नाटकविधाम् आधिक्येन काव्यलक्षणमस्ति –

'मृदुललितपदार्थगूढं शब्दार्थहीनम्, जनसुखपदबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।

बहुकृतरसमार्गसन्धिसन्धानयुक्तं भवति जगत्योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्"॥[3]

विभिन्नैः आचार्यैः काव्यं विभिन्नदृष्ट्या परिभाषितम्। केचन आचार्याः शब्दमात्रस्य व्यापार: काव्यमिति मन्वते केचन तु शब्दार्थयोः उभयोः सम्मिश्रणं काव्यमिति। तथा च केचन अस्मिन् अलङ्काराणां अनिवार्यतां विदधति कैश्चन तु गुणानाम् अनिवार्यता तत्र विधता। केचन् तु रीतिमत्त्वं दोषवियुक्तत्वञ्च काव्यमिति विदधति। एवं प्रकारेण काव्यचिन्तनस्य एकस्याः परम्परायाः सूत्रपातः अभवत्। अस्मिन्नेव क्रमे -

(क) आचार्यः भामहः –

षष्ठ्यां शताब्द्यां काव्यस्य लक्षणं ददाति – **"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"**।[4] अत्र शब्दार्थयुगलं काव्यमिति आचार्यैः स्वीक्रियते।

(ख) आचार्यः दण्डी –

सप्तम्यां शताब्द्यां काव्यस्य लक्षणं ददाति –

"तैः शरीरं काव्यमलङ्काराश्च दर्शिताः।

शरीरं तावदिष्टार्थव्यछिन्ना पदावली॥" [5]

य: शब्दः विशिष्टार्थयुक्तः स्यात् तत् काव्यम् ।

---

[3] ना. शा. १६/१२८

[4] काव्यालंकारः १/१६

[5] काव्यालंकारः १/१६

(ग) आचार्यः रुद्रटः –

नवम्यां शताब्द्याम् इमामेव उक्तिम् अपरविधिना कथयति - **"ननु शब्दार्थौ काव्यम्।"**[6] अर्थात् शब्दार्थं विना काव्यं नैव भवितुं शक्यते।

(घ) आचार्यः कुन्तकः –

दशम्यां शताब्द्यां काव्यस्य विषये भणितवान् -

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदा ह्लादकारिणि॥" [7]

कुन्तकेनोपर्युक्तलक्षणमनुसृत्य काव्ये शब्दः अर्थः चैव स्याताम् इति विधत्तम्। परन्तु शब्दार्थाभ्यां सह तस्मिन् (काव्ये) वक्रता अर्थात् चमत्कारः अपि स्यात् तथा च आह्लादसम्पादकतत्त्वमपितत् स्यदिति विधत्तम् कुन्तकेन।

(ङ) आचार्यः भोजः –

एकादश्यां शताब्द्यां काव्यलक्षणम् अस्यां काव्यचिन्तनपरम्परायाम् इतोऽपि परिमार्जितं अभवत्। यथाहि -

"निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥"[8]

भोजस्य मतानुसारं काव्ये दोषाः न स्युः, गुणाः स्युः तथा च तत् अलङ्कारैः रसैश्च युक्तं स्यात्।

(च) आचार्यः मम्मटः –

---

[6] रुद्रटकृतकाव्यालंकारः | २/१

[7] वक्रोक्तिजीवितम् |१/१

[8] सरस्वतीकण्ठाभरणम् १/२

“तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावलङ्कृती पुनः क्वापि।” [9]

दशम्यां शताब्द्यां आचार्य: मम्मट: स्वकाव्यलक्षणे अलङ्कारविषये किञ्चित् सरलत्वं स्वीकरोति – अस्य आचार्यस्य मतानुसारं दोषरहितौ गुणसहितौ कुत्रचित् अलङ्काररहितौ अपि शब्दार्तौ काव्यम् अस्ति।

(छ) आचार्यः जयदेवः –

त्रयोदश्यां शताब्द्यां स्वचन्द्रालोके काव्यस्य लक्षणं प्रस्तौति –

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥[10]

जयदेवेन अस्यां परिभाषायां प्रायः सर्वाणि तत्त्वानि समाहितानि सन्ति। रीति-वृत्ति-रस-गुण-अलङ्कारादीनां समेषां समन्वितं रूपं कव्यमिति स्वीक्रियते।

(ज) आचार्यः विश्वनाथः –

चतुर्दश्यां शताब्द्यां पूर्वोक्तानां सर्वेषां आचार्याणां काव्यलक्षणं खण्डयित्वा मुख्यरूपेण मम्मटस्य काव्यलक्षणे सन्निहितानि त्रीणि पदानि आलोचयित्वा एकं नवीनं काव्यलक्षणं प्रस्तौति। **“वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।”**[11]

(झ) पण्डितराजः जगन्नाथः –

सप्तदश्यां शताब्द्यां पूर्वोक्तयोः मम्मटविश्वनाथयो: उभयोरपि आचार्ययोः काव्यलक्षणं विद्वत्सु समाद्रियते पुनरपि पण्डितराजः स्वकाव्यलक्षणं ताभ्यां भिन्नशैल्या प्रस्तौति। तै: वाक्यस्य स्थाने शब्द: प्रयुज्यते। सोऽपि तादृश: यस्यार्थः रमणीयः स्यात्।

---

[9] का.प्र. १/४

[10] चन्द्रालोकः १/७

[11] सा.द. १/३

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"[12]

पण्डितराजस्य लक्षणे रमणीयता आधिक्येन महत्वं भजते । तेन रमणीयता व्यापकार्थे व्यक्ता। यस्यान्तर्गतं रसगुणालङ्कारचमत्कारादयः सर्वे समाहिताः सन्ति।
एतानि सर्वाणि काव्यलक्षणानि काव्यस्वरूपस्य बाह्यपक्षम् अधिकृत्य प्रवृत्तानि सन्ति।

- **काव्यस्यान्तरिकं पक्षम् –**

काव्यस्य आन्तरिकपक्षम् अनुशीलितुं चिन्तनस्य दीर्घा परम्परा प्राप्यते। सामान्यतया आचार्याः अनुभूतिजन्यस्य ज्ञानस्य छन्दस्वरालङ्कारबद्धाभिव्यक्तिं कविता निरूपयन्ति। विदुषां विचारा: कविताया: आन्तरिकपक्षमाधाय इत्थं प्रवर्तन्ते –

(क) डॉ. जगदीशगुप्तः –

सहजान्तरिकानुशासनेन युक्तः अनुभूतिजन्यः सघनलयात्मकः शब्दार्थः कविता अस्ति। यस्मिन् तदनुभूति-उत्पन्नकरणस्य यथेष्टा क्षमता निहिता भवति।"[13]

(ख) सच्चिदानन्दः हीरानन्दः वात्सायनाज्ञेयः –

काव्यस्य विषये मन्यते -
"वस्तुतः काव्ये कवेः व्यक्तित्त्वं नैव सः माध्यमः प्रकाशितः भवति यस्मिन् विभिन्नानुभूतयः भावनाः च चमत्कारिकयोगेन युक्ताः भवन्ति। काव्यं एकस्य व्यक्तित्वस्यैव नैव एकस्य माध्यमस्य अभिव्यक्तिरस्ति"।[14]

(ग) महावीरप्रसादः द्विवेदी –

---

12 रसगङ्गाधरः १/१

13 सिंह, नामवर, कविता के नये प्रतिमान, राज कमल प्रकाशन,नई दिल्ली: २०१६,सं १३

14 पालीवाल, कृष्णदत्त, अज्ञेय कवि कर्म का संकट, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली: २०१० पृ.२६१

द्विवेदिन: अनुसारं "यया रचनया चमत्कारजन्यः आनन्दः प्राप्यते, सा काव्यं कथ्यते"।[15]

(घ) आचार्यः रामचन्द्रशुक्लः –

रामचन्द्रशुक्लेन कवितां बहुव्यापकतया प्रस्तूयते। "येन प्रकारेण आत्मनः मुक्तावस्था 'ज्ञानदशा' कथ्यते, तथैव हृदयस्य मुक्तावस्था 'रसदशा' कथ्यते। हृदयस्य अस्याः एव मुक्तेः साधनायै मनुष्यस्य वाणी या यत् शब्दविधानं कुर्वती अस्ति, तत् एव कविता कथ्यते। कविता एव मनुष्यस्य हृदयं स्वार्थसम्बन्धानां सङ्कुचितमण्डलात् उपरि उत्थाय लोकसामान्यभावभूमौ नयति।"[16]

(ङ) महाकविः जयशङ्करप्रसादः –

जयशङ्करप्रसादः कवितामित्थं परिभाषयति - "काव्यं आत्मनः सङ्कल्पनात्मिका अनुभूतिरस्ति, यस्याः सम्बन्धः विश्लेषणेन, विकल्पेन, विज्ञानेन वा नास्ति। सा तु एका श्रेयस्करी प्रेयस्करी च रचनात्मिका ज्ञानधारा अस्ति।"[17]

कवितायाः सम्बन्धे पाश्चात्यमर्मज्ञाः अपि स्वान् विचारान् प्रास्तुवन् । एतेषामपि चिन्तनं विचारणीयमस्ति। यथाहि -

I. "सैमुअल जोन्सन" –

नाम्न: विदुष: अनुसारं – "Poetry is the art uniting pleasure with truth, by calling to the help of reason.''

---

[15] सिंहल, बैजनाथ, हिन्दी विधाएँ:स्वरूपात्मक अध्ययन, हरयाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़: १९९८, पृ.४

[16] सुक्ल, रामचन्द्र, चिंतामणि, हिन्दी साहित्य सरोवर, आगरा: १९९२

[17] मिश्र, भागीरथ, काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी: २०१४ पृ.१४

कविता सत्यस्य आनन्दं सत्येन सम्मिश्रयति। एषा सा कला अस्ति यस्यां बुद्धेः सहाय्यार्थं कल्पनायाः प्रयोगः विधियते ।

II. शैले महोदयानुसारम् –

"Poetry is a general sense may be defind as the experession of the imagination." इत्थं सामान्यतया कविता कल्पनायाः अभिव्यक्तिरिति वक्तुं शक्यते।

III. वड्र्सवर्थमहोदयानुसारम् –

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feeling. It takes its origin from emotions recollected in tranquitity." इत्थं कविता शान्तिकाले सहजानुभूतिभिः स्मारितानां मनोवेगानां सहजोद्रेकिका अस्ति।

IV. कलरिजमहोदयः - कवितां परिभाषयति -

"Poetry is the anti thesis of science having for its immediate object pleasure not truth." इत्थं तदनुसारं कविता विज्ञानस्य परिस्थितिरस्ति यस्याः तात्कालिकम् उद्देश्यं सत्यं न भूत्वा आनन्दो भवति।

V. मैथ्यू-अर्नाल्डमहोदयानुसारम् –

"Poetry is at bottom a criticism of life." इत्थं कविता मूलतः जीवनस्य आलोचना अस्ति।

एतासां परिभाषाणाम् आलोके एका बह्वी बृहती काव्यचिन्तनधारा लक्ष्यते या अनुभूतियुक्तं ज्ञानं संवेदनां च कवितायाः रूपं स्वीकरोति, काव्यचिन्तनस्य बृहत्यां धारायाम् अस्यां प्रवहमानेषु विचारेषु आचार्यरामचन्द्रशुक्लस्य चिन्तनं तु सहसैव वेदं कवितां वक्तुं

उद्वेलयति, यतोऽहि वेदोऽपि अनुभूतिजन्यज्ञानस्य सञ्चितः कोषः अस्ति। तस्य चरमलक्ष्यमपि मुक्तिरेवास्ति। अतः निःसन्देह-रूपेण वेदः “वैदिककविता” इत्यभिधानेन अभिधातुं शक्यते ।

वेदस्य काव्यत्वालोचनम्

- **वेदस्यकाव्यत्वम्**

यदा “**अनन्ता: वै: वेदा:**”[18] इत्यादिभिरुक्तिभि: वेदस्तावत् अनन्तज्ञानविज्ञानस्य आकर: प्रतिपाद्यते “**सर्वज्ञानमयोहि सः**”[19] वेद: सम्पूर्णस्य भारतीयसाहित्यधाराया: उत्सभूतो वर्तते। स्थापितस्य अस्य तथ्यस्य विपर्यस्तमिदं कथनं वेदे न कवितायाः तत्त्वानि इति। लौकिकदृष्ट्या वेदान् आलोचिते सति अस्य आन्तरिकबाह्ययोः उभयोरपि पक्षयोः विचारः करणीयः इति पक्ष: सुदृढो भवति।

काव्यस्य आन्तरिकपक्षचिन्तनधारामनुगुणं वेदं समीक्षणे सति वेदस्य काव्यत्वं प्रस्फुटं भवति। एतद्धारानुसारम् अनुभूतिजन्यज्ञानस्याभिव्यक्ति: काव्ये लक्षणीया भवेत् तथा च वेदस्य प्रत्येका ऋचा अनुभवात्मकं ज्ञानं अथवा वैदिकऋषीणां कवीनां साक्षात्काररूपज्ञानपुञ्जभूता अस्ति। यथा निरुक्तकारेण उक्तम्- “**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**”[20] “**साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो**

---

[18] तै.ब्रा. ३/१०/११

[19] मनु. २/७

[20] निरु. १/२०

बभूवुः।"[21] वेदस्य बाह्यस्वरूपानुशीलनमेव एनाम् अपरसञ्ज्ञया "छन्दस्" अनया सम्बोधयितुं चोदयति। **"छदि संवरणे"** [22]इत्यनेन चुरादिगणस्थधातुना "छन्दस्" शब्दः निष्पद्यते। अस्यार्थः 'आच्छादनं' भवति। आचार्यः यास्कः छन्दसः निरुक्तिं ददाति **"छन्दांसि छदनात्"।**[23] आचार्यकात्यायनोऽपि छन्दसः परिभाषां दत्तवानस्ति – **"यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः"।**[24] स्वमनोगतान् भावान् यदा शब्दमाध्यमेन एकस्मिन् निश्चितक्रमे बद्धः क्रियते, तदा पद्यात्मिका रचना प्रादुर्भवति। इयमेव पद्यात्मिका रचना 'छन्दः' कथ्यते। वेदस्य कृते 'छन्दस्' शब्दस्य प्रयोगः वेदे लोके उभयत्र प्राप्यते।[25]

सामान्यतया जनानाम् इयं धारणा अस्ति यत् वेदः काव्यशैलीव्यतिरिक्तो वर्तते शब्दराश्यात्मकवेदाभिव्यक्तकर्तॄणां काव्याभिव्यक्तकर्तॄणां च मिथ: भिन्नता वर्तते। ऋषिकवी च पृथग्-पृथगभिधानम्। तयोश्च अभिव्यञ्जकशैली अपि भिन्ना। ऋषिषु साक्षात्कारात्मिका अनुभूत्यात्मिका दर्शनशक्तिरस्ति। तत्रैव कविषु वर्णनशक्तेः प्राधान्यम्। शक्तिभिन्नात् शक्तेः पृथग्-पृथगभिधानम्। एकः ऋषिः अस्ति[26] अपरश्च कविः अस्ति।[27] ऋषिणा अभिव्यक्तः शब्दः

---

21 निरु. १/२०

22 धा.पा. चुरादिगणः

23 निरु. ७/१२

24 सर्वानुक्रमणी १२/६

25 १ (क) ऋ.१०/९०/९
(ख) यजु.३१/७
(ग) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ अ. शौ. सं.१९/६/१३
२ बहुलं छन्दसी। अ. २/४/३९

26 ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शैत्यौपमन्यवः। निरु. २/११

27 कवते सर्वं जानाति सर्वं वर्णयति सर्वं सर्वतो गच्छति। शब्द. पृ.११६

ईशसम्मितः (आदेशस्य)। तत्रैव कविना अभिव्यक्त: कान्तासम्मितो भवति।[28] काव्याभिव्यक्तिषु शब्दार्थयोर्गुणभाव: लक्ष्यते। तस्मादेव कविकर्म काव्यं रसाङ्गभूतव्यापारप्रावीण्यं वर्तते।

अलङ्कारशास्त्रीया इयम् अवधारणा एव निमित्तमापततया भिन्नतादर्शने परं गहनतया विचारेण ज्ञायते यत् अयं भेदः साहित्यसंहितासु भिन्नत्वं स्थापनार्थं कृतम्। वस्तुतः वेदे काव्ये च पार्थक्यस्य भावः नास्ति। वेदवाक्यानि शब्दप्रधानानि ईशसम्मितानि आदेशात्मकतया इतोऽपि कान्तासम्मितशैलीवत् एव उपदिशन्ति। यथा –

"सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ [29]

अर्थात् हृदयं प्रेम्णा पूर्णं स्यात्, मनः शुभविचारेण पूर्णं स्यात्, परस्परं वैरभावः न स्यात्, प्रत्येकः परस्परं प्रीतिं कुर्यात् यथा धेनुः स्वनवजातशिशुना (वत्सेन) सह करोति। इतोऽपि

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना:।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवान्। [30]

अर्थात् पितुरनुसर्ता मात्रा च साम्मनस्यसम्पादकश्च पुत्रः स्यात्। पत्नी पत्या सह मधुरेण शान्तिपूर्वकेण आलापं विदधातु। एतादृशानि एव उदाहराणि ऋग्वेदेऽपि प्राप्यन्ते

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

---

[28] काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतर क्षतये।

सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ का.प्र. १/२

"प्रभुसम्मित-शब्द-प्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादितिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुण-भावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतयाविलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म। वृत्तिकाव्यप्रकाशः १/२

[29] अ. शौ. सं. ३/३०/१

[30] अ. शौ. सं. ३/३०/२

उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा: ॥ [31]

अर्थात् सुवासाः स्त्री स्वपत्युः समक्षे यथा स्वात्मानं समर्पयति, तथैव वेदः अपि स्वगूढरहस्यान् तत्त्ववेतॄणां समक्षे प्रकाशयति। वेदस्य काव्यापरनामधेयस्य विषये अथर्ववेदे उदाहरणं प्राप्यते --

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥[32]

ऋषि: चोदयति मानवान् यत् हे मानव ! त्वं देवस्य इदं वेदरूपं काव्यं पश्य यन्न कदाचित् म्रियते, न च कदाचित् जीर्ण-शीर्णं वा भवति।

● अथर्ववेदीयशौनकसंहिताया: प्रमुखकवय:

अथर्ववेदीयशौनकशाखीयकवीनां योगदानं परिचयश्च

- कविर्नाम तथा तैः दृष्टानि सूक्तानि च

1. अगस्त्य:- काण्डम्-४ सूक्तम्-१३३.
2. अंगिरा: - काण्डम्-२ सूक्तम्-३५ काण्डम्-४ सूक्तम्-३९ काण्डम्-५ सूक्तम्-१२ काण्डम्-६ सूक्तम्-४५-४८ काण्डम्-७ सूक्तम्-५२,५३,८२,९५, काण्डम्-१९ सूक्तम्-२२,३१,३४.
3. अजमीढ: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१४३.
4. अत्रि: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१२.

---

31 ऋ. १०/७१/४

32 अ. शौ. सं. १०/८/३२

5. अथर्वा - काण्डम्-१ सूक्तम्-१-३, ६, ९, ११, १५, २०, २१, २३, २७, ३०, ३४, ३५, काण्डम्-२ सूक्तम्-३, ४, ७, १३, १९-२३, २९, ३४, काण्डम्-३ सूक्तम्-१-५, ८, १०, १५, १६, १९, २३-२७, ३०, काण्डम्-४ सूक्तम्-३, ४, १०, १५, २८, ३०, ३४, काण्डम्-५ सूक्तम्-५-८, ११, २४, २८, काण्डम्-६ सूक्तम्-१-७, १३, १७, १८, ३६-४०, ५०-५८, ६२, ६४-६९, ७३, ७८-८१, ८५-९०, ९२, ९७-९९, १०९, ११३, १२४-१२६, १२९-१३२, १३८-१४०, काण्डम्-७ सूक्तम्-१-८, १४, १५, १९, ३५-३९, ४७-५१, ५४, ५८, ६३, ७३-७७, ८०, ८१, ८३-८६, ९०-९२, ९६, ९७, ९९, १०२-१०४, ११०, १११, काण्डम्-८ सूक्तम्-७, ९, काण्डम्-९ सूक्तम्-१, २, काण्डम्-१० सूक्तम्-३, ७, ९, काण्डम्-११ सूक्तम्-२-५, ९, काण्डम्-१२ सूक्तम्-१ काण्डम्-१५ सूक्तम्-१-१८, काण्डम्-१७ सूक्तम्- १-४, काण्डम्- १९ सूक्तम्- १४-२०, २३, २४, २६, २७-३८, २०३.

6. अथर्वाङ्गिगरा: - काण्डम्-४ सूक्तम्-८ काण्डम्-६ सूक्तम्-७२, ७४, ८३, ८४, ९४, १०१, १२८, काण्डम्-७ सूक्तम्-७८, १२०-१२३, काण्डम्-१९ सूक्तम्-३-५, १६.

7. अथर्वाचार्य: - काण्डम्-८ सूक्तम्-१०.

8. अप्रतिरथ:- काण्डम्-१९ सूक्तम्-१३.

9. अयास्य: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१६, ९१.

10. अष्टक: - काण्डम्-२० सूक्तम्-२५, ३३.

11. आयु: - काण्डम्-२० सूक्तम्-११९.

12. इन्द्राणी: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१२६.

13. इरिम्बिठि: - काण्डम्-२० सूक्तम्-३-५, ३८, ४४, ४६, ४७.

14. इच्छोचन: - काण्डम्-६ सूक्तम्-१०३.

15. उछाजक: - काण्डम्-३ सूक्तम्-२९, काण्डम्-४ सूक्तम्-१५.

16. उन्मोचन: - काण्डम्-५ सूक्तम्-३० काण्डम्-६ सूक्तम्-१०५.

17. उपरिबभ्रव: - काण्डम्-६ सूक्तम्-३०,३१, काण्डम्-७ सूक्तम्-९,१०,७९.

18. ऋभु: - काण्डम्-४ सूक्तम्-१२.

19. कपिञ्जल: - काण्डम्-२ सूक्तम्-३०, ३१, काण्डम्-७ सूक्तम्-१०, ७९.

20. कबन्ध: - काण्डम्-६ सूक्तम्-७५, ७७.

21. कलि: - काण्डम्-२० सूक्तम्-९७.

22. कश्यप: - काण्डम्-१० सूक्तम्-१० काण्डम्-१२ सूक्तम्-४,५.

23. कंकायन: - काण्डम्-६ सूक्तम्-७०, काण्डम्-११ सूक्तम्-११.

24. काण्व: - काण्डम्-२ सूक्तम्-३१, ३२, काण्डम्-५ सूक्तम्-२३.

25. कुत्स: - काण्डम्-१० सूक्तम्-८, काण्डम्-२० सूक्तम्-८, १३, १०७, १२३.

26. कुरुस्तुति: - काण्डम्-२० सूक्तम्-४२.

27. कृष्ण: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१७, ८९,९४.

28. कौरुपथि: - काण्डम्-७ सूक्तम्-६०, काण्डम्-११ सूक्तम्-१०.

29. कौशिक: - काण्डम्-६ सूक्तम्-३५, ११७-१२१.

30. गरुत्मान् - काण्डम्-४ सूक्तम्-६, ७, काण्डम्-५ सूक्तम्-१३, काण्डम्-६ सूक्तम्- १२, १००, काण्डम्-७ सूक्तम्-९३, काण्डम्-१० सूक्तम्-७४.

31. गार्ग्यः - काण्डम्-६ सूक्तम्-४९, काण्डम्-१९ सूक्तम्-७, ८.

32. गृत्समदः - काण्डम्-२० सूक्तम्-२०, ३४, ५७, ६७, ९५.

33. गोतमः - काण्डम्-२० सूक्तम्-१, २, १३, १५, २५.

34. गोपथः - काण्डम्-१९ सूक्तम्-२५, ४७-५०.

35. गोषूक्त्यश्वसूक्तिनैः - काण्डम्-२० सूक्तम्-२७, २९, ३९, ६१, ६२, १०९.

36. चातनः - काण्डम्-१ सूक्तम्-७,८,१६,२८, काण्डम्-२ सूक्तम्-१४, १८, २५, काण्डम्-४ सूक्तम्-३६, काण्डम्-५ सूक्तम्-२९, काण्डम्-६ सूक्तम्-३२, ३४, काण्डम्-८ सूक्तम्-३, ४.

37. जमदग्निः - काण्डम्-६ सूक्तम्-८, ९, १०२.

38. जाटिकायनः - काण्डम्- ६सूक्तम्-३३, ११६.

39. त्रिशोकः - काण्डम्-२० सूक्तम्-२२, ४३.

40. देवजामयः - काण्डम्-२० सूक्तम्-९३.

41. देवातिथिः - काण्डम्-२० सूक्तम्-१२०.

42. द्रविणोदा - काण्डम्-१ सूक्तम्-१८.

43. द्रुह्वणः - काण्डम्-६ सूक्तम्-६३.

44. नारायणः - काण्डम्-१० सूक्तम्-२, काण्डम्-१९ सूक्तम्-६.

45. नृमेधः - काण्डम्-२० सूक्तम्-५८, ६२, ६४, १००, १०४, १०५, १०८.

46. नोधाः - काण्डम्-२० सूक्तम्-९, ३५, ४९.

47. पतिवेदनः - काण्डम्-२ सूक्तम्-३६.

48. परुच्छेपः - काण्डम्-२०सूक्तम्-६७, ७२, ७५.

49. पर्वतः - काण्डम्-२० सूक्तम्-६३, १११.

50. पुरुमीढः - काण्डम्-२० सूक्तम्-१४३.

51. पुरुमीह्लः - काण्डम्-२० सूक्तम्-१०३.

52. पुरुष जगद्बीजमः - काण्डम्-३ सूक्तम्- ६.

53. पुरुहन्माः - काण्डम्-२० सूक्तम्-८१, ९२, १०५.

54. पुष्टिगुः - काण्डम्-२० सूक्तम्-५१.

55. पूरणः - काण्डम्- २०सूक्तम्-९६.

56. प्रगाथः - काण्डम्-२० सूक्तम्-८५, ९३.

57. प्रजापतिः प्रचेताः - काण्डम्-२ सूक्तम्-३०, काण्डम्-४ सूक्तम्-३५, काण्डम्-६ सूक्तम्-११, काण्डम्-७ सूक्तम्-१०७, काण्डम्-१६ सूक्तम्-१,२, काण्डम्-१९ सूक्तम्४६.

58. प्रत्यंगिरसः - काण्डम्-१० सूक्तम्-१.

59. प्रस्कण्वः - काण्डम्-७ सूक्तम्-४०, ४६, काण्डम्-२० सूक्तम्-४७, ५१.

60. प्रियमेधः - काण्डम्-२० सूक्तम्-१२, २२, ९२.

61. बभ्रुपिंगलः - काण्डम्-६ सूक्तम्-१४.

62. बादरायणः - काण्डम्-४ सूक्तम्-३७, ३८, काण्डम्-७ सूक्तम्-६१, ११४.

63. बुध: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१३७

64. बृहच्छुक्र: - काण्डम्-६ सूक्तम्-५३.

65. बृहद्दिवोऽथर्वा: - काण्डम्-५ सूक्तम्-१, २, ३, काण्डम्-२० सूक्तम्-१०७.

66. बृहस्पति: - काण्डम्-१० सूक्तम्-६.

67. ब्रह्मा - काण्डम्-१ सूक्तम्-१७, १९, २२, २४, २६, ३१, ३२, काण्डम्-२ सूक्तम्- १५, १७, २४, ३३, काण्डम्-३ सूक्तम्-११, १२, १४, २३, २८, ३१, काण्डम्-४ सूक्तम्- ५, १६, २१, ३३, काण्डम्-५ सूक्तम्-९, १०, २०, २१, २५, २७, काण्डम्-६ सूक्तम्- ४२, ५४, ५५, ७१, ११४, ११५, काण्डम्-७ सूक्तम्२०,२३,२५,३३,३४,५५, ५६,६२,६८, ६९,१०८, १०९,११६, काण्डम्-८ सूक्तम्-१,२, काण्डम्-९ सूक्तम्-४,६,७,९,१०, काण्डम्-१० सूक्तम्-५,३७,४०,४१, काण्डम्-११ सूक्तम्-१,२, काण्डम्-१३ सूक्तम्-१,९, काण्डम्-१६ सूक्तम्-३,४, काण्डम्-१७ सूक्तम्-१ काण्डम्-१९ सूक्तम्-३,४,२०,३०,३६,४०,४३,५१,५२,५८,७१.

68. ब्रह्मास्कन्द: - काण्डम्-४ सूक्तम्-३१,३२.

69. भग: - काण्डम्-६ सूक्तम्-८२.

70. भरद्वाज: - काण्डम्-२ सूक्तम्-१२, काण्डम्-१९ सूक्तम्-४९ काण्डम्-२० सूक्तम्-३६,५८,६३,९०.

71. भर्ग: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१०३,११३,११८.

72. भागलि: - काण्डम्-६ सूक्तम्-५२.

73. भारद्वाज: - काण्डम्-२० सूक्तम्-८.

74. भर्गव: - काण्डम्-७ सूक्तम्-११८,११९, काण्डम्-११ सूक्तम्-६.

75. भुवन:- काण्डम्-२० सूक्तम्-१२४.

76. भृगु: - काण्डम्-३ सूक्तम्-१३,२४,२५, काण्डम्-४ सूक्तम्-९,१४, काण्डम्-६ सूक्तम्-२६,२९,१२२,१२३, काण्डम्-७ सूक्तम्-१६,१८,५७,८९, ११२,११३, ११५. काण्डम्९ सक्तम्-५, काण्डम्-१२ सूक्तम्-२, काण्डम्-१९ सूक्तम्-३२, ३३, ४४,४५, ५३, ५५.

77. भृगुराथर्वण: - काण्डम्-२ सूक्तम्- ५.

78. भृग्वंगिरा: - काण्डम्-१ सूक्तम्-१२,१४,२५, काण्डम्-२ सूक्तम्-८,१०, काण्डम्-३ सूक्तम्- ७,११, काण्डम्-४ सूक्तम्-११, काण्डम्-५ सूक्तम्-४,२२, काण्डम्-६ सूक्तम्- २०,४२,४३,९१,९५,९६,१२६, काण्डम्-७ सूक्तम्-३१,३२,९८, काण्डम्-८ सूक्तम्-८, काण्डम्-९ सूक्तम्-३,८, काण्डम्-११ सूक्तम्-१२, काण्डम्-१९ सूक्तम्-२६,३९,७२.

79. मधुच्छन्दा: - काण्डम्-२० सूक्तम्-२६,३८,४०,५६,६०,६८,७१,८४.

80. मयोभू: - काण्डम्-५ सूक्तम्-१४,१८,१९.

81. मरीचि कश्यप: - काण्डम्-७ सूक्तम्-६४.

82. मातृनामा: - काण्डम्-२ सूक्तम्-२, काण्डम्-८ सूक्तम्-६.

83. मृगार: - काण्डम्- ६सूक्तम्-२३,२९.

84. मेधातिथि: - काण्डम्-७ सूक्तम्-२६,३०, काण्डम्-२० सूक्तम्-१८.

85. मेध्यातिथि: - काण्डम्-२० सूक्तम्-९,१०,४९,५०,५२, ५३,५७,५९, ८५,९९, १०१, १०४,११६,११८.

86. यक्ष्मनाशन: - काण्डम्-२० सूक्तम्-९६.

87. यम: - काण्डम्-६ सूक्तम्-४५,४८, काण्डम्-७ सूक्तम्-२४,६६,१०५, काण्डम्- १२ सूक्तम्-३, काण्डम्-१६ सूक्तम्-५,९, काण्डम्-१९ सूक्तम्-५६,५७.

88. ययाति: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१३६.

89. रक्षोहा: - काण्डम्-२० सूक्तम्-९६.

90. रेभ: - काण्डम्-२० सूक्तम्-५४,५५.

91. वत्स: - काण्डम्- २० सूक्तम्-१०७,११५,१३८.

92. वरुण: - काण्डम्-७ सूक्तम्-११७.

93. वरूसर्वहरिर्वा: - काण्डम्-२० सूक्तम्-३०,३२.

94. वसिष्ठ: - काण्डम्-१ सूक्तम्-२९, काण्डम्-३ सूक्तम्-१९,२२ काण्डम्-२० सूक्तम्- १२,१७,१८,३७,५९,७३,८२,८७,११७,१२१.

95. वसुक्र: - काण्डम्-२० सूक्तम्-५,७३,७६, काण्डम्-१९ सूक्तम्-२.

96. वामदेव: - काण्डम्-३ सूक्तम्-९, काण्डम्-७ सूक्तम्-५९, काण्डम्-२० सूक्तम्-१३,७७,८८,१२४,१३७,१४३.

97. विरूप: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१,३.

98. विवृहा: - काण्डम्-२० सूक्तम्-९६.

99. विश्वमना: - काण्डम्-२० सूक्तम्-६४,६६.

100. विश्वामित्र: - काण्डम्-२ सूक्तम्-२४, काण्डम्-३ सूक्तम्-१७, काण्डम्-५ सूक्तम्-१५,१६, काण्डम्-६ सूक्तम्-४४,१४१,१४२, काण्डम्-२० सूक्तम्-१,६,८,११,१३,१९,२०.

101. विहव्य: - काण्डम्-१० सूक्तम्-५.

102. वीतहव्य: - काण्डम्-६ सूक्तम्-१३६,१३७.

103. वृषाकपि: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१२६.

104. वेन: - काण्डम्-२ सूक्तम्-१, काण्डम्-४ सूक्तम्-१,२.

105. शंयु: - काण्डम्-२० सूक्तम्-७८,८०,८३,९८.

106. शक्ति: - काण्डम्-२० सूक्तम्-७९.

107. शन्तातिः - काण्डम्-१ सूक्तम्-३३, काण्डम्-४ सूक्तम्-१३, काण्डम्-६ सूक्तम्-१०,१९,२१,२४,५१,५६,५७,९३,१०२, काण्डम्-७ सूक्तम्-७०,७२, काण्डम् ११,सूक्तम्-८.

108. शम्भु: - काण्डम्-२ सूक्तम्-२.

109. शशकर्ण: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१३,१४२.

110. शिरिम्बिठि: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१३७.

111. शुक्र: - काण्डम्-२ सूक्तम्-११, काण्डम्-४ सूक्तम्-७,१९,४०, काण्डम्-५ सूक्तम्-१४,३१, काण्डम्-६ सूक्तम्-१३४,१३५.

112. शुन: शेप: - काण्डम्-६ सूक्तम्-२५, काण्डम्-७ सूक्तम्-८८, काण्डम्-२० सूक्तम्-

२६,४५,७४,१२२.

113. शौनक: - काण्डम्-२ सूक्तम्-६, काण्डम्-६ सूक्त-१६,१०८, काण्डम्-७ सूक्तम्११,१३,८७.

114. श्रुतकक्ष: - काण्डम्-२० सूक्तम्-११०.

115. श्रुष्टिगु: - काण्डम्-२० सूक्तम्-११९.

116. सर्पराज्ञी: - काण्डम्-२० सूक्तम्-४८.

117. सविता: - काण्डम्-२ सूक्तम्-२६, काण्डम्-१९ सूक्तम्-३१.

118. सव्य: - काण्डम्-२० सूक्तम्-२१.

119. सिन्धुद्वीप: - काण्डम्-१ सूक्तम्-४,६, काण्डम्-७ सूक्तम्-९४, काण्डम्-१० सूक्तम्- २३, ५६, ८६, १०२.

120. सुकक्ष: - काण्डम्-२० सूक्तम्-७, ७४, ११२, १३६.

121. सुतकक्ष: - काण्डम्-२० सूक्तम्-६०.

122. सुकीर्ति: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१२५.

123. सुदा पैजवन: - काण्डम्-२० सूक्तम्-९५.

124. सुदीति: - काण्डम्-१० सूक्तम्-१०३.

125. सूर्या सावित्री: - काण्डम्-१४ सूक्तम्-१,२.

126. सोभरि: - काण्डम्-२० सूक्तम्-६२.

127. सौभरि: - काण्डम्-२० सूक्तम्-१४, ११४, काण्डम् -७ सूक्तम्-६७, काण्डम्-८ सूक्तम्-५.

वेदस्य द्रष्टारः ऋषयः सन्ति। एते ऋषयः एव कवयः सन्ति। ऋषिः दर्शनशक्त्यान्वितो भवति तथा च कविः अलौकिकवर्णनकलायां निपुणो भवति। इतोऽपि ऋषिकवियोश्च निरुक्तिरपि स्पष्टयति। यथाहि –

१- ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यव:।[33] तथा

२- कविः क्रान्तदर्शनो भवति। कवतेर्वा।[34]

इत्थं एता: निरुक्तय: ऋषिकवयोश्च भेदम् अवसादयति। कवौ दर्शनशक्तेरपि सत्त्वात् ऋषौ च वर्णनशक्तेरपि सत्त्वात् । वैदिकऋचानां सम्यक् अध्ययनेन स्पष्टो भवति यत् मन्त्रद्रष्टृषु ऋषिषु दर्शनशक्तिना सह वर्णनकलाय: अपि सत्त्वम् । यस्मिन् कवौ यावती दर्शनशक्तिः भवति, सः लोकस्य तावता एव सहजरूपेण वर्णनं करोति। अत: वैदिकमन्त्रद्रष्टृणां ऋषीणां कवित्वम् इतोऽपि स्पष्टतया प्रतिभासते ।

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि दुरिता बाधमानः ।

अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसिवीडयस्व ॥ [35]

अर्थात् दुन्दुभेः भयङ्करध्वनिं श्रुत्वा स्वसेनाः यत्र उत्साहिताः भवन्ति, तत्रैव शत्रुसेनासु भयमुत्पद्यते। तथा च,

दिवस्पृथिव्या: पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः ।

अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥ [36]

---

[33] निरु. २/११

[34] निरु. १२/१२

[35] अ. शौ. सं. ६/१२६/२

[36] अ. शौ. सं. ६/१२५/२

रथे वृक्षस्य पृथिव्याः द्युलोकस्य च त्रयाणामेव सामर्थ्यं सन्निहितं भवति। रथस्य निर्माणं वृक्षेण भवति, वृक्षः जलात् उत्पद्यते। अतः अयं रथः जलस्य आत्मा अस्ति। अयं रथः गोचर्मणः रज्जुभिः दृढो भवति, अतः अयं वज्रस्य तुल्यं दृढः अस्ति। अतः अस्मिन् रथे अन्नादि पदार्थाः मात्रायां संस्थापिताः सन्ति।

एषु मन्त्रेषु वर्णनकलाया: औत्कृष्ट्यं स्पष्टतया लक्ष्यते। अतः **"कवेः कर्म काव्यम्"**[37] इयं उक्तिः वेदस्य काव्यत्वन्न प्रतिहन्ति वैदिकऋचा: अपि कवेरेव रचना: सन्ति । अत: वेदोऽपि कव्यमस्ति।

● वैदिकछन्दसां परिचयः –

'छन्दस्' पदस्य संरचना व्याकरणानुसारं <चदि अह्लादने दीप्तौ च> भ्वादिधातुना छकारादेशं कृत्वा 'असुन्' प्रत्ययस्य योगे भवति।[38] अचार्ययास्कमहोदयेन 'छन्द्' एवं 'छद्' धातुभ्यां 'स्तुति' एवं 'आच्छादन'अर्थे 'छन्दसः' पदस्य व्युत्पत्तिः उक्ता।[39] 'छन्दः' विशिष्टावर्णे वर्णान् ग्रन्थनं करोति, अथवा अनेन स्तुतिः, आनन्दः वा भवति, अतः "छन्दः" [40] सर्वानुक्रमणिकायां 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'[41] 'छन्दः' पदस्य एतादृशी परिभाषा प्राप्यते। 'छन्दः' अस्य पदस्य कोशगतः अर्थः एवं वर्तते-वेदः, वृत्तम् (छन्दः), कामना,स्तुतिः,स्वेच्छाचरणम्, अभिलाषा नियन्त्रणम्, आशयम्, विशं च।[42] निघण्टौ स्तोतां

---

[37] राजशेखरकाव्यमीमांसा

[38] चन्देरादेश्च छः। उणादिकोशः ४/२१/९

[39] निरु. ३/१४

[40] छन्दांसि छादनात्। निरु.७/१२ शत. ब्रा.८/५/२/१

[41] सर्वानुक्रमणी १२/६

[42] संस्कृत हिन्दि कोश वामन शिवराम आप्टे

छन्दः स्वीकृतः।[43] प्रस्तुतप्रसङ्गे अनेन पदेन इदं ज्ञायते यत् 'छन्दः' पदस्य अर्थःवर्तते - अक्षराणामेतादृशं निर्धारितं परिमाणं यैः स्तुतिः क्रियते,आनन्दः भवति तथा यः मन्त्रान् आवृत्तं कृतं वर्तते, सः छन्दः।

पद्यात्मिका भावाभिव्यक्तिः स्यात् तदर्थं छन्दसां प्रयोगः । मुक्तादिरीत्या भावाभिव्यक्तिः अपेक्षया छन्दस्भाषायां मनोगतभावानां विचाराणां वा प्रभावः अत्यन्ततीव्रेण भवति। छन्दोमयं सम्प्रेषणं अत्यन्तं कोमलं भवति, तथा च साक्षात् हृदयं स्पर्शयति। छन्दस्श्रवणेन हृदयं आह्लादितं भवति, वैदिककविभिः दृष्टावाणी छन्दोमयी अस्ति। तस्मात् छन्दश्शास्त्रं वेदाङ्गत्वेन परिगण्यते। यथाहि -

"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते , ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरूक्तं श्रोत्रमुच्यते ।

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् , तस्मात्साङ्गमधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते ॥"[44]

वैदिकछन्दांसि

मन्त्ररूपिवाक्यस्य छन्दो [45] विधिद्वयेन विचारयितुं शक्यते – (१) केवलाक्षरगणनानुसारिणा विधिना ; (२) पाद – अक्षरगणनानुसारिणा विधिना। सम्प्रति व्यवहारे पाद-अक्षरगणनानुसारिणा विधिनैव वैदिकमन्त्राणां छन्दो विचार्य्यते। परञ्च यजुषां छन्दोविचाराय

---

[43] निरु.३/१६

[44] पा.शि. खण्ड८/ ४१-४२

[45] छन्दांसि चतुर्षु समूहेषु विभक्तानि सन्ति। प्रथमः समूहः '**प्राग्गायत्री-पञ्चक**' इति नाम्ना प्रसिद्धः। '**प्राग्गायत्री-पञ्चक**'नाम्नि समूहे पञ्च छन्दांसि सन्ति- मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा, समा। द्वितीयः समूहः 'प्रथम्-सप्तक्' नम्ना प्रसिद्धः। प्रथमसप्तके गायत्री , उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्तिः, त्रिष्टुप्, जगती- एतानि छन्दांसि सन्ति। तृतीयः 'द्वितीय-सप्तक' नाम्ना प्रसिद्धः। द्वितीयसप्तके अतिजगती, शक्करी, अष्टिः, अत्यष्टिः, धृतिः, अतिधृतिः - एतानि छन्दांसि सन्ति।चतुर्थः 'तृतीय-सप्तक' अभिधायी। तृतीयसप्तके कृतिः, प्रकृतिः, आकृतिः, विकृतिः, संकृतिः, अभिकृतिः, उत्कृतिः -एतनि छन्दांसि सन्ति।

केवलाक्षरगणनानुसारिविधिरेव उपयुज्यते । केचन आचार्या ऋक्ष्वपि केवलाक्षरगणनानुसारिविधिम् आमनन्ति। अन्यै ऋक्षु मात्रं पाद केवलाक्षरगणनानुसारिविधिरेव उपयुज्यते। माध्यन्दिनसंहिताया भाष्यकारै: यजुषां छन्दोनिर्देशाय प्रथमो विधिरेव तावद् आश्रीयते। अत्र ताभ्यां कृता: केचन निर्देशा: प्रस्तूयन्ते – **यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानानाम् एकाक्षरादीनां पिङ्लेन 'दैव्येकम्' इत्यादिनोक्तं छन्दो बोधव्यम् । तदधिकानां तु** 'होता यक्षद्वनस्पतिमभिहि' **(मा.सं., २१/४६) इत्यादीनां नास्ति छन्द: कल्पना।'(म.भा.मा.सं., भूमिका);** 'तत्र इषे त्वा **द्विपदो मन्त्र: त्र्यक्षरत्वाद्दैव्यनुष्टुप्।' (उ.भा.मा.सं.१/१);** 'उर्जे त्वा । **द्विपदस्त्र्यक्षरो मन्त्र: दैव्यनुष्टुप् यदि यजुषां छन्दोऽस्ति। एवं सर्वेषु यजु: षु ऋक्षु च वक्तव्यम्। ग्रन्थगौरवभयादत्र नोच्यते।'(तत्रैव)** केवलाक्षरगणनानुसारिविधिर्नाम्नैव अभ्युपद्यते यद् विधावस्मिन् मात्रं मन्त्रस्य अक्षराण्येव गण्यते, मन्त्र: पादेषु न विभज्यते । पादव्यवस्थाभाववशादेव एकाक्षरात्मिकस्य मन्त्रस्याऽपि (यजुषोऽपि) छन्दो निर्देष्टुं शक्यते ,न तु पादाक्षरगणनानुसारिविधौ एकाक्षरात्मिकस्य मन्त्रस्य विषय एतत्प्रकारको निर्देशो भवितुं शक्यते। विधिद्वयमेव मन्त्राणाम् अक्षरगणनाकाल एव उपयुज्यते । अधुना छन्दंसि कियन्ति इति तावद् विचार्य्यते।

छन्दांसि 'प्राग्गायत्री-पञ्चक, प्रथमसप्तक्, द्वितीयसप्तक, तृतीयसप्तक' भेदेन चतुर्विधसमूहेषु विभक्तानि षड्-विंशति: सन्ति। 'प्राग्गायत्री-पञ्चक' समूहे 'मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा, समा' इमानि छन्दांसि सन्ति। 'प्रथमसप्तक' समूहे 'गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति:, त्रिष्टुप्, जगती' छन्दांसि सन्ति । 'द्वितीयसप्तक' नाम्नि समूहे 'अतिजगती, शक्वरी, अष्टि:, अत्यष्टि:, धृति:, अतिधृति:' छन्दंसि सन्ति। तृतीयसप्तक नाम्नि समूहे 'कृति:, प्रकृति:, आकृति:, विकृति:, संकृति:, अभिकृति:, उत्कृति:' छन्दांसि सन्ति। ऋक्षु एषां विचारोऽक्षराणि

पादेषु विभज्य, यत्र पादविभाजनं न सम्भाव्यते तत्र अक्षरागणनानुसारिण्येव छन्दोव्यवस्था। अत: जैमिनिना ऋचां लक्षणं प्रदत्तम् 'तेषां यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक् तथा यजुषां लक्षणं कृतम् अनियमिताक्षरावसानो यजु: । यत्र अक्षराणाम् अवसानो न नियतं तत् यजु: , न तु छन्दोऽभावत्वं यजु:।

गायत्रीछन्दः

अस्मिन् छन्दसि त्रिषु पादेषु सामान्यतया २४ वर्णाः भवन्ति। शौनकसंहितायां गायत्रीछन्दसः उदाहरणम् –

आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥[46]

उष्णिक्छन्दः

अस्मिन् छन्दसि त्रिषु पादेषु सामान्यतया २८ वर्णाः भवन्ति। शौनकसंहितायां उष्णिक्छन्दसः उदाहरणम् –

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।

उभे सुष्टुती सुगातवे ॥[47]

अनुष्टप्छन्दः

अस्मिन् छन्दसि चतुर्षु पादेषु ३२ वर्णाः भवन्ति। शौनकसंहितायां अनुष्टप्छन्दसः उदाहरणम् –

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।

सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥[48]

---

46 अ. शौ. सं.१/५/१

47 अ. शौ. सं..६/१/३

48 अ. शौ. सं. ३/१८/२

बृहतीछन्दः

अस्मिन् छन्दसि चतुर्षु पादेषु ३६ वर्णाः भवन्ति। शौनकसंहितायां बृहतीछन्दसः उदाहरणम् –

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।

ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः ॥[49]

पङ्क्तिछन्दः

अस्मिन् छन्दसि ४० वर्णाः भवन्ति। चतुर्षु पञ्चसु वा पादेषु छन्दसो विभक्तिः भवति। यदा पञ्च पादाः भवन्ति तदा प्रत्येकस्मिन् पादे अष्टौ-अष्टौ वर्णाः भवन्ति, यदा चत्वारः पादाः भवन्ति तदा प्रत्येकस्मिन् पादे क्वचित् दश-दश वर्णाः भवन्ति, क्वचिच्च प्रथमे तृतीये च अष्टौ-अष्टौ वर्णाः द्वितीये चतुर्थे च द्वादश-द्वादश वर्णाः भवन्ति। शौनकसंहितायां पङ्क्तिछन्दसः उदाहरणम्–

निरितो मृत्युं निरृतिं निररातिमजामसि ।

यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद्यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥[50]

त्रिष्टुप् छन्दः

अस्मिन् छन्दसि चतुश्चत्वारिंशत् वर्णाः भवन्ति। अस्य प्रत्येकस्मिन् पादे एकादश-एकादश वर्णाः भवन्ति। शौनकसंहितायां त्रिष्टुप् छन्दसः उदाहरणम् –

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।

---

[49] अ. शौ. सं. ४/१२/७

[50] अ. शौ. सं. १२/२/३

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥[51]

जगतीच्छन्दः

अस्मिन् छन्दसि अष्टाचत्वारिंशत् वर्णाः भवन्ति। अस्य प्रत्येकस्मिन् पादे द्वादश-द्वादश वर्णाः भवन्ति। शौनकसंहितायां जगतीछन्दसः उदाहरणम् –

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।

अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥[52]

एतेभ्यः मुख्यसप्तछन्दोभ्यः अतिरिच्य अपि छन्दांसि भवन्ति । तथा च प्रत्येकस्मिन् छन्दसि अपि भेदाः भवन्ति। एतेषां छन्दसां भेदेषु यदि एकः वर्णः न्यूनः भवति तर्हि निचृत् यदि द्वौ वर्णौ न्यूनौ भवतः तदा विराट् यदा एकः अधिकः भवति तदा भूरिक् तथा च यदा द्वौ वर्णौ अधिकौ भवतः तदा स्वराट् भवति। अयं नियमः प्रत्येकस्मै छन्दसे वर्तते।

सामान्यरूपेण वेदेषु पञ्चदशछन्दसां प्रयोगः दृश्यते। छन्दस्सु लय-गति-यति-ताल-अलङ्कारादीनां प्रधानता भवति, यनि काव्यस्य बाह्यआवरणस्य प्रमुखानि अवयवरूपाणि भवन्ति। एतान् विना काव्यस्य शरीरं नैव सृज्यते। ।

अथर्ववेदीयशौनकसंहिताया: लोकसांस्कृतिक काव्यधारा

'लोकसंस्कृतिः' शब्दार्थेऽस्मिन् लोकस्य संस्कृतेश्च धारणाऽनुस्यूता वर्तते । 'लोक' शब्द: इत्थं व्युत्पाद्यते - **"लोक्यते इति लोकः"**[53] अर्थात् दर्शनकर्मीभूता: सर्वे लोकाः सन्ति।

---

[51] अ. शौ. सं. ९/९/२

[52] अ. शौ. सं. ९/९/१२

[53] अमरकोशभूमिवर्गः २/१/६

लोकशब्दो निष्पत्तिः इममेव आशयं प्रकटयति। **"लोकृदर्शने"**[54] धातोः 'घञ्' प्रत्यये कृते सति लोकशब्दः निष्पद्यते। अयं धातुः दर्शनार्थे अस्ति तथा च 'घञ्' प्रत्ययो भावे कर्मणि च प्रयुज्यते। अतः अस्यार्थः दृश्यमानः पदार्थोऽपि भवति। लोकशब्दस्य अयमेवार्थो **"वाचस्पत्यम्"** कोशे अपि विद्यते – **"लोक्यतेऽसौ"**। **"अमरकोशे"** अपि 'लोकः'शब्दस्य इमामेव व्युत्पत्तिम् आधाय लोकस्य द्वौ अर्थौ निरुपितौ[55] अतः अमरकोशानुसारं संसारः जनश्च उभौ अपि लोको वर्तते।

- **लोकः एवं लोकसंस्कृतेः अवधारणा**

लोकस्य अवधारणा – लोकशब्दस्य सामान्यरूपेण अर्थद्वयं वर्तते – भुवनम्, जनः, भुवनेन परलोकस्य, इहलोकस्य, पाताललोकस्य च ज्ञानं भवति। तत्रैव द्वितीयः अर्थः जनः तेन सम्पूर्णजनसमूहः ये नगरे ग्रामे वा वसन्ति। येषां ज्ञानम् एवं जीवनाधारः कयाचित् प्रणाल्या परिवर्तितो न स्यात् तथा ये अकृत्रिमजीवने स्वं सहजं मन्वते । लोकशब्दस्य साहित्यिकः अर्थः सर्वप्रथमं वेदे प्राप्यते। वेदेषु लोकशब्दस्य अनेके अर्थाः प्राप्यन्ते – संसारम्, स्थानम्, स्वर्गः, अन्तरिक्षम् इत्यादि। पाश्चत्याः विद्वांसाः अभ्युपगच्छन्ति यत् लोकशब्दस्य प्रयोगः आदिसाहित्ये ऋग्वेदे तथा तस्य परवर्त्तिसाहित्येऽपि सामान्यरूपेण संसारार्थे वर्तते। वैदिकसाहित्ये मुख्यरूपेण लोकस्य भेदद्वयं – मृत्युलोकः तथा परलोकः । एतेषामेव पौराणिकसाहित्ये 'सप्तमहाव्याहृतिः'शब्देन सह योजनं दृश्यते । हरिवंशपुराणे तथा बृहदारण्यकोपनिषदि लोकशब्दस्य अर्थः चतुर्दशलोकेन सहैव मर्त्यलोकः, परलोकः, जनश्च वर्तते। स्मृतिसाहित्ये लोकस्य अभिप्रायः लोकत्रयमिति । उपजीव्यसाहित्ये काव्ये रामायणे तथा महाभारते 'संसारार्थं तथा सर्वसाधारणानां जनानां कृते लोकशब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। भारतीयकाव्यचिन्तनपरम्परायाः आरम्भादेव लोकः सर्वसामान्यजनरूपेण दृष्टः अस्ति। तथापि

---

[54] धा. पा. भ्वादिगणः

[55] अमरकोश भुवनम्, जनश्च।

साहित्यजगति लोकस्य तात्पर्यं प्रवाह्मानसर्वसाधारणजनानां ग्रहणं भवति। येषां जीवनाधारः पुस्तकेन प्राप्तं ज्ञानं न भवति अपितु परम्परया प्राप्तं ज्ञानमेव जीवनाधारत्वेन वर्तते।

लोकस्य परिभाषा

'लोकशब्दस्य अर्थः जानपदः अथवा ग्राम्यो नास्ति अपितु नगरेषु ग्रामेषु च विद्यमानाः समस्ताः जनाः लोकधारणान्तर्गतं सन्ति। ते सर्वे 'लोक'पदार्थान्तर्भुजः व्यवहारिकज्ञानस्याधारो लिखितानि पत्राणि पुस्तकानि वा न सन्ति। एते जनाः परिष्कारसंपन्नानां सुसंस्कृतदृश्यमानानां नागराणाम् अपेक्षया अधिकाः सरलाः तथा च अकृत्रिमजीवनस्य अभ्यस्ताः भवन्ति । तथा च परिष्कारासंपन्न रुचियुक्तजनानां सर्वविधलासाय सुकुमारतायै च यानि अपि साधनानि, वस्तूनि वा अपेक्ष्यमाणानि भवन्ति, एते उत्पन्नानि कुर्वन्ति।'[56]

लोकसंस्कृतिविषयस्य विशेषज्ञः कुञ्जविहारीदासेन लोकसंस्कृतिम् आधाय प्रतिपादितम् – **'ये जनाः सुसंस्कृतानां परिष्कारापन्नानां प्रभावेण रहिता सन्ति, तथा च स्व-स्व प्राक्स्तनीमौलिकजीवनजीवनशैल्यां एव आचरन्ति ते एव 'लोकाः' कथ्यन्ते।'**[57]

इत्थं द्विवेदीदासयोः अभिप्राये 'लोक' पदार्थान्तर्भुजस्ते एव सन्ति यैः औपचारिकरीत्या अध्ययनमध्यापनं च नैव सम्पाद्यन्ते, अपितु श्रुतिपरम्परयैव मातृ-पितृ-समाजेभ्यः यत् अधिगम्यते तैः, तस्यैवाधारेण तैः स्वाभाविकशैल्या जीवनं याप्यते, तेषां जीवनशैल्यां किमपि कृत्रिमत्वं न वर्तते। अनेनैव लोकेन स्वीकृता सरला, सहजा च जीवनपद्धतिः लोकसंस्कृतिः कथ्यते।

---

[56] डॉ. द्विवेदी हजारी प्रसाद – 'जनपद' वर्षा, अंक, पृ. ६५

[57] The People that live is more or less Primitive conditions out side the sphere of sophisticated inftuences. डॉ. दास – ए स्टडी आफ ओरिसन फोकलोर।

‘लोक’ शब्दं व्याख्यातुं विदुषा **‘फोकलोर’** शब्दः प्रयुज्यते। **‘फोकलोर’** (Folklore) शब्दे धारणाद्वयी समाहिता वर्तते| १ ‘फोक (Folk)’ २ ‘लोर (Lore)’ इति च। आधुनिकधारणायां **‘फोकलोर’** शब्दे समाहितेन **‘फोक’** अंशेन कृत्रिमजीवनशैल्यां अभ्यस्तजनानां विपर्ययत्वेन स्वाभाविकजीवनशैल्याभ्यस्तानां ग्रहणं भवति| शब्देऽस्मिन् ‘लोर (Lore)’ अंशेन “ज्ञानम्” अर्थोऽयमधिगम्यते। अतः ‘फोकलोर’ शब्दः सामान्यजनस्य ज्ञानं अभिव्यनक्ति । कथनस्याऽस्य अभिप्रायो अयमस्ति यत् सर्वसामान्यजनस्य यद् किमपि ज्ञानमस्ति, तत् सर्वं ‘फोकलोर’ इत्यस्य क्षेत्रमस्ति| अतः ‘फोकलोर’ इत्यस्मिन् सार्वजनसाधारणरीतयः, प्रथाः, विश्वासाः, परम्पराः, गीतानि, कथाः, नाट्यानि इत्यादीनि सर्वाणि समाहितानि भवन्ति। अस्यैव ‘लोकः’ शब्दस्य तद्भवरूपः हिन्दीभाषायां **“लोग”** इति वर्तते। शब्दोऽयं सर्वसाधारणमनुष्यस्य कृते प्रचलितो अस्ति।

- **अभिजातसंस्कृतिः एवं लोकसंस्कृतिः - अवधारणा**

समाजे द्विविधसंस्कृतीनां समावेशः भवति। प्रथमस्तु बौद्धिकविकासस्य पराकाष्ठां प्राप्तवन्तः उच्चवर्गीयसंस्कृतीनामेव अनुसरणं ये कुर्वन्ति तेषां वर्तते। एतेषां भौतिकदृष्ट्या सम्पन्नत्वमावश्यकं न वर्तते। अस्यां मध्यमवर्गसमाजस्यापि समावेशः भवति। इमे स्वबौद्धिकविकासस्य बलेन समाजस्य नेतृत्वं कुर्वन्ति। एवं गुणयुक्तानां मनुष्याणां संस्कृतिः अभिजातसंस्कृतिः इत्युच्यते। अभिजातवर्गात् भिन्नाः येषां बौद्धिकः स्तरः निम्नः, मध्यमं च वर्तेते तेषां समाजे सामान्यवर्गरूपेण एवं अतिसामान्यवर्गरूपेण गणना भवति ते एव लोक पदेन उच्यन्ते। एतेषां संस्कृतिः लोकसंस्कृतिः इत्युच्यते। जनाः स्वप्रवाहे एव प्रवाहिताः भवन्ति। अयम् अभिजातसंस्कृतेः न विरोधं कुर्वन्ति नैव अनुसरणम्।

विभिन्नसमाजशास्त्रिभिः अभिजातसंस्कृतौ तथा लोकसंस्कृतौ भेदः स्वीकृतः वर्तते। अत्र लोकसंस्कृतेः प्रसिद्धः चिन्तकः कृष्णदेव उपाध्यायमहाभागः स्वविचारं प्रस्तौति – प्राचीनभारतीयसाहित्यस्य अवलोकनेन स्पष्टीभवति यत् अत्यन्तप्राचीनकालादेव भारतवर्षे

संस्कृतेः धाराद्वयं प्रभवति स्म। प्रथमा शिष्टसंस्कृतिः, द्वितीया लोकसंस्कृतिः। शिष्टसंस्कृतेः तात्पर्यम् अभिजातवर्गस्य संस्कृत्या वर्तते। यच्च बौद्धिकविकासस्य पराकाष्ठां प्राप्नोति। अयं वर्गः स्वप्रतिभायाः कारणात् समाजस्य अग्रेसरः तथा पथप्रदर्शकः आसीत् यस्य संस्कृतेः स्रोतः वेदः तथा शास्त्रमासीत्। परन्तु लोकसंस्कृतेः अस्माकम् अभिप्रायः जनसाधारणस्य संस्कृत्या सह वर्तते या स्वप्रेरणां लोकात् प्राप्नोति। यस्य उत्सभूमिः जनाः आसन्। यदि ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः तथा अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः सूक्ष्मदृष्ट्या अध्ययनं क्रियते तर्हि इदं पार्थक्यं स्पष्टीभवति। विद्याव्यसनी पद्मविभूषणपण्डितबलदेव-उपाध्याय: अस्मिन् सन्दर्भे स्वविचारं प्रकटयति – लोकसंस्कृतिः शिष्टसंस्कृतेः सहायिका भवति। कस्यचित् देशस्य धार्मिकक्रियाकलापानां ज्ञानार्थम् उभयेषु संस्कृतिषु परस्परं सहयोगः अपेक्षितः भवति। अनया दृष्ट्या अथर्ववेदीयशौनकसंहिता ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः पूरकत्वेन वर्तते। अथर्ववेदीयशौनकसंहिता लोकसंस्कृतेः परिचायिका वर्तते। ऋग्वेदीयशाकलसंहिता शिष्टसंस्कृतेः दर्पणत्वेन वर्तते। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः विचाराणां धरातलं सामान्यजनजीवनं वर्तते। ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः विशिष्टं जनजीवनं वर्तते।

ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां यज्ञयागादीनां विधानं वर्तते तर्हि अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां यज्ञयागादीनां सह श्रापः, कृत्याविश्वासः तथा मन्त्रतन्त्राणां वर्णनं वर्तते। एवं प्रकारेण ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां शिष्टं तथा संस्कृतजनानां विचाराणां विवरणं लभ्यते तर्हि अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां सामान्यजनानां जीवनस्य चित्रणं वर्तते। एवं प्रकारेण वेदद्वयं विभिन्नसंस्कृतिद्वयं प्रतीकत्वेन वर्तते।

उपनिषत्कालेऽपि संस्कृतिद्वयं पृथक् रूपेण दृष्टिगोचरं भवति। बृहदारण्यके, कठोपनिषदि तथा अन्यौपनिषत्सु यत्र आत्मा-परमात्माजीवजगत्यादेः वर्णनं वर्तते। ते अभिजातसंस्कृतेः ग्रन्थं वर्तते। परन्तु येषु लोकजीवनस्य वर्णनं वर्तते, येषु लोकविश्वासः तथा लोकरीति रिवाजानामुल्लेखः वर्तते तेषां सम्बन्धनिश्चयैव लोकसंस्कृत्या सह वर्तते। गृह्यसूत्रान् यदि लोकसंस्कृतेः विश्वकोशं वदामः तर्हि किञ्चित् अत्युक्तिः न भवति।

उपर्युक्ताधारेण वयं पश्यामः – अभिजातवर्गीयसंस्कृतिः एवं लोकसंस्कृतौ भिन्नतायाः कारणं तेषां वैचारिकचिन्तनं वर्तते। यदि विचाराः सामान्यजनजीवनस्य भूमितः उत्पन्नाः तर्हि तेषां विचाराधारं लोकसंस्कृतिः इत्युच्यते तथा यदा विचाराणां धरातलशिष्टं जनजीवनं भवति तदा सः अभिजातसंस्कृतिः इत्युच्यते। शिष्टम् तथा लोकसंस्कृतिम् वयं भारतीयाः परिपेक्षेन पश्यामः तर्हि इदमन्वयस्य स्थाने समन्वयस्यैव चित्रणं प्रस्तुवन्ति। अस्यैव पुष्टिम् एषा पङ्क्ति करोति – यदा तथाकथितं शास्त्रीयं संस्कृतिः मलिना भवति तदा सा लोकात् जीवनं रक्षति। धातव्यं वर्तते यत् 'फोकलोर' इत्यस्य पाश्चात्यावधारणया योजिताः सन्ति। लोक-वार्ता, लोक-साहित्यम्, लोक-संङ्गीतं, लोक-कला, लोक-विश्वासादि शब्दाः आधुनिकसमाजशास्त्रीणां तथा नृतत्वशास्त्रीय सन्दर्भेषु आदिमं कबीलाई समाजः तथा कृषकग्रामीणसमाजस्य समस्तसांस्कृतिकोपादानां तथा आयामान् 'फोकलोर अथवा लोकवार्तायाम् एकत्रितं वर्तते। आधुनिकं-सभ्यं, विकासशीलं, वैज्ञानिकं, संस्कृतं, परिष्कृतं, व्यवस्थितं तथा निबद्धेन विपरितम् आदिम्, बर्बरम्, असभ्यम्, अर्थसभ्यम्, अविकसितम्, असंस्कृतम् अर्थात् मौखिकपरम्पराद्वारा लोककण्ठे प्रवाहितं संस्कृतिः लोकसंस्कृतित्वेन वदामः। पाश्चात्ये जगति 'फोक' येषु सन्दर्भेषु आलोकं परिभाषयति तेषु आलोकेषु लोकसंस्कृतेः अवधारणां भारतीयसाहित्ये एवं समाजे न परिभाषयन्ति। भारतीयसाहित्यं 'लोके' तथा शास्त्रे एकं सततं संवादं तथा आदान-प्रदानस्य सम्बन्धं द्योतयति। यच्च लोके वर्तते, तदेव कदाचित् शास्त्रं भवति। यच्च शुद्धं शास्त्रीयं रूपं वर्तते तत् कालान्तरे शास्त्रीयं न भवति अपितु लोके जीवितं दृश्यते। लोके तथा शास्त्रे विरोधः न्यूनः परन्तु सम्वादः तथा विनिमयस्य सम्बन्धैव अधिकः वर्तते। संस्कृति शब्दस्य प्रयोगः विभिन्नेषु अर्थेषु वर्तते। <कृ> धातोः सम् उपसर्गः तिङ् प्रत्ययात् निष्पन्नः अयं शब्दः। अस्य व्युत्पत्तिमूलकः अर्थः वर्तते – अलंकरणम्, संस्कारः, शुद्धिः। परन्तु

आङ्ग्लसमाजस्य पर्यायवाचित्वेन **रूपेण** प्रयोगात् संस्कृतिम् अपि एकं विशेषं परिभाषिकमर्थं प्राप्तमस्ति।

संस्कृतिशब्दः स्वविस्तृतपरिभाषिकार्थे आध्यात्मिकं, बौद्धिकं, मानसिकमेव भौतिकक्षेत्रेषु मनुष्यस्य योग्यतायाः समवेतरूपस्य बोधं कारयति। यच्च मनुष्येन समाजे भूता प्राप्तमस्ति।

लोकसंस्कृतेः सन्दर्भे सत्येन्द्रेण अपि प्रतिपाद्यते – इयं लोकसंस्कृतिः जातिबोधकशब्दरिव बोध्या अस्ति, अस्याः अन्तर्गतं पृष्ठजातिषु प्रचलिताः अथवा समुन्नत जातीनां अपेक्षया निम्नेत्युक्त्या अभिधातृषु समुदायेषु प्रचलिताः विश्वासाः, रीतयः, कथाः, गीतानि, कथानकानि च अन्तर्भुञ्जि भवन्ति। एवमेव प्रकारेण विवाहः, उत्तराधिकारः, बाल्यकालस्य,प्रौढकालस्य च जीवनस्य रीतयः, अनुष्ठानानि, पर्वाणि, युद्धम्, पशुपालनम् इत्यादिविषयाणामपि विचारोऽस्मिन् क्षेत्रे एव सम्पाद्यन्ते। अनेनैव सार्धं धर्मगाथाः, अवदानं, लोककथाः, लोकगीतानि, किंवदन्त्यः, प्रहेलिकाः, लोरिकाः चाऽपि लोकसंस्कृतेः क्षेत्रान्तर्गतमेव अध्ययनविषयाः सन्ति।

लोकसंस्कृतेः एते अध्येतव्य विषया: सामाजवैज्ञानिकैः पुनः दैशिकविषयाः वैदेशिकाश्च इत्यादिवर्गेषु विभज्यन्ते । एषु विद्वत्सु सोफिया बर्न महोदयाः, ए.एम. स्पिनोजा महोदयः, ए.एच.क्रेपी महोदयः, एल् दण्डी महोदयः, डॉ. कृष्णदेवोपाध्यायश्च प्रमुखाः सन्ति।

द्वितीयोऽध्यायः

अथर्ववेदीयशौनकसंहिता

याः

लोकसाहित्यावधारणालोके

ऽध्ययनम्

लोकसाहित्यम्

साधारणतया मौखिकपरम्परया स्मृतिबलात् प्राप्तव्यगीतकथासूक्त्यादिलोकसाहित्यम् इति निगद्यते । लोकसाहित्यं नाम परम्परया प्राप्तं साहित्यमिति । अनेन कस्यचिदपि देशस्य ऐतिहासिकी परिपुष्टिर्भवति । अथ च सामाजिकविकासस्य दशादिशा च अवधारिता भवति । डॉ. देवेन्द्रसत्यर्थिनः मते तावत् लोकसाहित्यस्य अभिव्यक्तिः तत्तद्देशिकसामूहिकप्रतिभया भवति । (हिन्दी लोक साहित्य का प्रबन्ध, पृ. २३) । हजारीप्रसादद्विवेदिनः मतानुसारं लोकसाहित्यावधारणानुपातिनः त एव प्रसङ्गाः भवन्ति ये तावत् लोकचित्तात् साक्षादाविर्भूताः भवन्ति तथा च तैः जनसामान्यं आन्दोलितं चलितं प्रभावितं वा भवति । (हजारीप्रसादद्विवेदी विचार और वितर्क, पृ. २०६) । लोकसाहित्यं प्रायशः अलिखितमिव भवति । अतः एतदनुपातिकृतीनां रचयिता सर्वदा अज्ञातः भवति । यद्यपि लोकसाहित्यस्य इयती निश्चिता एका परिभाषा न भवितुं शक्यते तथापि प्रतिपादयितुं शक्यते यत् लोकसाहित्यं मौखिकं परम्परानुगतं लोकसंस्कृतेश्च प्रतिबिम्बभूतं भवति । लोकसंस्कृतेरालोचनं लोकसाहित्य-लोकवार्ता-लोकमानस-लोकतत्त्वम् – एषाम् आलोचनेन निबद्धमस्ति । लौकिकरीतय आचाराश्च, लोकविश्वासाः, लोकप्रथाः, लोकपरम्पराश्च एते सर्वे अभिव्यञ्जन्ति लोककथा-लोकगीत-लोकोक्ति-लोकभाषायाश्च अलङ्कारबिम्बप्रतीकादिमाध्यमेन । लोकाभिव्यक्तेः मूलस्रोतस्काः ता एव मानवीयप्रवृत्तयो लक्ष्यन्ते याभिः लोकसाहित्यं मात्रम् अनुप्राणितभूतं न सञ्जातम् अपितु शिष्टसाहित्यमपि ताभिरेव प्रवृतीभिरनुप्राणितमिव लक्ष्यते । **'सहितस्य भावः साहित्यम्'** पदव्युत्पत्या अधिगम्यते यत् "परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्वं साहित्यम्" इति

श्राद्धविवेकः ।[58] वाचस्पत्ये कोशे "साहित्यम्" शब्दमाधाय प्रतिपाद्यते "१) मेलने, २) परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणामेकक्रियान्वयित्वे, ३) तुल्यैकक्रियान्वयित्वे, ४) एकक्रियान्वयित्वमात्रे, ५) बुद्धि-विशेषविषयत्वे, ६) पद्यात्मके काव्ये च ।"[59] सहितपदस्य द्वौ अर्थौ प्राप्येते । १ साकम्, २ समुदायश्च । व्युत्पत्तिदृष्ट्या 'सहित' पदेन एषोऽपि प्रतिपाद्यते- **'हितेन सहितम्'** । अर्थात् लोकहितं यस्मिन् समन्वितं स्यात्, तत् साहित्यमस्ति । अन्तःकरणे तरङ्गानाम् उत्पादयित्रीणाम् अनुभूतीनां भावनानाञ्च शब्दैः सार्थिका कलापूर्णा अभिव्यक्तिरेव साहित्यमस्ति । इत्थं साहित्यं लोकेन साक्षात्सम्बद्धं भवति । लोकसाहित्यस्य शिष्टसाहित्यस्य वा उद्गमस्रोतस्काः लोकाभिव्यक्तयरेव भवन्ति । शिष्टसाहित्यमिव लोकसाहित्यं समाजस्य प्रतिबिम्बो भवति । लोकसाहित्ये कस्यचिद् राष्ट्रस्य सामाजिक-ऐतिहासिक-धार्मिक-आर्थिकादीनां विषयाणां प्रतिबिम्बो दृश्यते ।

लोकसाहित्यम् अधोलिखितेषु वर्गेषु वर्गीक्रियते –

1. लोकगीतम्
2. लोकगाथा
3. लोककथा
4. लोकनाट्यम्
5. लोकसुभाषितम्

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः लोकसाहित्यावधारणावलोके समीक्षणन्नाम उक्ताः विषयाः यथा तत्र निरूपिताः जाताः तेषां प्रसङ्गानाम् आलोचनमिति ।

---

58 शब्द. पृ.३४४

59 वाचस्पत्यम् पृ.५२९०

- **अथर्ववेदीयशौनकसंहितागतानि लोकगीतानि**

लोकसाहित्यस्य अङ्गो भवति लोकगीतम्, लोकगीतस्य सम्बन्धः सङ्गीतेन वर्तते । एवं न वाच्यं येषां लयानां रचना मनुष्येन क्रियते त एव लयाः सङ्गीतपदवाच्या भवन्ति, अपितु इयं प्रकृतिरपि प्रतिपलं गीतानि श्रावयन्ती तिष्ठति । प्रकृतेः प्रत्येकस्मिन् कणे सङ्गीतं विद्यमानमस्ति । पुनः सो वायोर्ध्वनिः स्यात् अथवा पशुपक्षिणां वृक्षाणां वा ध्वनिः स्यात् । सर्वेषु भिन्नप्रकारकस्य सङ्गीतस्य विद्यमानता दृश्यते ।

सङ्गीतस्य प्रामुख्येन द्वौ भेदौ मन्येते- १ शास्त्रीयसङ्गीतम्, २ लोकगीतम् च ।

शास्त्रीयसङ्गीतं देवानां सङ्गीतत्वेन प्रसिद्धिं भजते । अस्य जनको भगवान् शिवो मन्यते । ताण्डवनृत्यं यत् कठोरनृत्यत्वेन प्रसिद्धम् अनेनैव नर्तितम् । मृदुनृत्यस्य लास्याख्यस्य जन्मदात्री शिवस्य भार्या पार्वती मन्यते । लोकगीतेषु शास्त्रीयसङ्गीतस्य तत्त्वानि विद्यमानानि दृश्यन्ते । पुनरपि शास्त्रीयसङ्गीताल्लोकगीतानि भिद्यन्ते । लोकगीतानि तानि गेयगीतानि भवन्ति, यानि लोकै: लोकाय लौकिकजीवनाधारितान् विषयान् अधिकृत्य विरचितानि भवन्ति । लोकगीतानि अज्ञातकर्तृकानि भवन्ति । यानि तु ज्ञातकर्तृकानि श्रूयन्ते तानि तै: कर्तृभि: प्रवर्तितानि एव सन्ति, न तु तै: कर्तृभि: विरचितानि सन्ति । प्रवर्तनवेलायां तै: कर्तृभि: परम्परया प्राप्तगीतेषु नूतनांशः कदाचित् आक्षिप्यते । न तु मूलतया तै: कर्तृभि: तानि रच्यन्ते । परम्परया प्राप्तव्यत्वादेव लोकगीतेषु छन्दोधर्मिता तु वरीवृत्यते परन्तु छन्दसां पालनं दृढतया न दृश्यते । एतानि समाजेन स्वीक्रियन्ते । रचनाशैलीदृशा एषु लौकिकपदावल्याः प्रयोगो दृश्यते आपाततया येन एतानि समाजस्य हृदयङ्गमानि भवन्ति ।

लोकगीतानि सङ्गीतदृष्ट्या त्रिषु भागेषु विभज्यते । प्रथमे भेदे धार्मिकपौराणिकगीतानि गृह्यन्ते येषु भक्तेर्निर्गुणादयो भावाः विद्यमानाः भवन्ति । एतेषु दुर्गा-भैरवी-पीलु-इत्यादयो रागाः भवन्ति । **द्वितीयभेदे** समसामयिके समाजे प्रचलिताधुनिकगीतेभ्यः

प्राप्तद्वितीयस्थानकानि गीतानि सन्ति येषु कजली, बिरहा, राई इत्यादीनां समावेशो भवति। एतेषां कृते कामोद-झिझोरी चेत्यादीनां रागाणां प्रयोगो भवति। **तृतीयभेदे** पर्वणि उत्सवेषु च गीयमानानि गीतानि गृह्यन्ते, येषु समस्तानां सप्तस्वराणां प्रयोगो दृश्यते। स्ववैशिष्ट्यमनुगुणं द्वयोः वर्गयोः विभज्यन्ते लोकगीतानि । शब्दगतवैशिष्ट्यदृशा विषयगतवैशिष्ट्यदृशा च एतानि आलोच्यानि सन्ति।

- **लोकगीतानां शब्दगतवैशिष्ट्यदृशा भेद-प्रभेदः**

शाब्दिकीसाम्यतामालोचयितुं प्रवर्तते शब्दगतवैशिष्ट्यम्। अनेन वैशिष्ट्येनैव सामान्यतया टेकाधारितं काव्यं कथ्यते लोकगीतमिति । शाब्दिकीसाम्यतया प्रवृत्तानि लोकगीतानि अथर्ववेदेऽपि प्राप्यन्ते।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाम् अनेकत्र सूक्तेषु तादृशाः मन्त्राः समुपलभ्यन्ते ये तावत् शाब्दिकवैशिष्ट्यदृशा लोकगीतस्य श्रेण्यां सङ्गणिताः शक्यन्ते । तत्र मन्त्रेषु पदसाम्यता वाक्यसाम्यता पादसाम्यता चाऽपि दृश्यते । इत्थं त्रिविधसाम्यतादृशा अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां त्रिविधटेकाधारेण लोकगीतानि श्रूयन्ते गीतानि दृश्यन्ते च । कुत्रचित् सम्पूर्णेऽपि सूक्ते टेको व्याप्तोऽस्ति। कुत्रचित् सूक्तस्य कासुचित् ऋचासु एव टेको दृश्यते । इत्थम् अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः मन्त्राणां शब्दगतवैशिष्ट्यालोचनद्वारा तेषु व्याप्तानां लोकगीततत्त्वानाम् आलोचनं कर्तव्यं वर्तते तानि तत्त्वानि कथं तत्र सन्निहितानि सन्ति तदर्थं उदाहरणानि द्रष्टव्यानि –

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः प्रथमे सूक्त एव टेको दृश्यते । अस्य सूक्तस्य वाचस्पतिर्देवता एवञ्च अनुष्टुप् छन्दो वर्तते तथा अस्मिन् सूक्ते बुद्धिवृद्धिविषय उपदेशः प्राप्यते। यथाहि-

१ पुनरेहि वचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय **मय्येवास्तु मयि श्रुतम्** ॥
२ इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु **मय्येवास्तु मयि श्रुतम्** ॥[60]

प्रथमकाण्डीयतृतीयसूक्तस्य प्रत्येकस्मिन् मन्त्रे टेको दृश्यते । अस्य सूक्तस्य पर्जन्यादिर्देवता एवञ्च अनुष्टुप्पथ्यापङ्क्ती छन्दसी वर्तेते । अस्मिन् सूक्ते स्वास्थ्यस्य विषय उपदेशः प्राप्यते । यथाहि -

१ . विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

२ . विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् । **तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥**

३ . विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

४ . विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

५ . विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

६ . यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम् । **एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥**

७ . प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । **एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥**

८ . विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव । **एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥**

९ . यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः । **एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥**[61]

---

60 अ. शौ. सं. १/१/२-३

61 अ. शौ. सं. १/३/१-९

- **अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः लोकगीतानां विषयगतवैशिष्ट्यदृशा भेद-प्रभेदविचारः –**

लोकगीतानि तत्प्रतिपाद्यार्थानुसारम् अधोलिखितासु श्रेणीषु विभज्यन्ते -

1. श्रमाधारितलोकगीतम्
2. ऋत्वाधारितलोकगीतम्
3. संस्काराधारितलोकगीतम्
4. व्रताधारितलोकगीतम्
5. राष्ट्राधारितं लोकगीतम्

श्रमाधारितलोकगीतम्

श्रमाधारितलोकगीतं शारीरिकश्रमस्य कार्यकरणे गीयते, येन व्यक्तिः शारीरिकविश्रान्तिम् अपसार्य्य निरन्तरं श्रमकार्ये संलग्नो भवेत् । एवं प्रकारकं गीतं कृषिकार्यस्य, वस्तुनः शिल्पादेर्निर्माणस्य वा समये गीयते । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामपि श्रमाधारितानि लोकगीतानि प्राप्यन्ते । यथा –

कृषिः श्रमाधारितं कार्यं वर्तते । कृषिकार्यं निरन्तरं चलायमाना एका प्रक्रिया वर्तते। अस्यां प्रक्रियायां काले-काले भिन्नं-भिन्नं कार्यं करणीयं भवति । अस्मिन् कदाचित् सामूहिकरूपेण कार्यं करणीयं भवति तु कदाचित् एकाकिनैव । यत् कार्यं सामूहिकरूपेण भवति तस्मिन् काले विशेषरूपेण लोकगीतानां गायनं भवति । यथा शस्यारोपणकाले, पक्वान्नस्य च कर्तनकाले सामूहिकरूपेण कार्यं सम्पादनीयं भवति । अस्मिन्नुपलक्ष्ये अथर्ववेदीयशौनकसंहितेयो मन्त्रो वर्तते यथा-

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।

विराजः श्नुष्टिः सभरा असन् नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन् ॥[62]

इदं सम्पूर्णमपि सूक्तं कृषयेऽर्पितमस्ति, पुनरपि उक्तमन्त्रः पक्वान्नस्य कर्तनाय समर्पितो वर्तते । एवमेव प्रकारेण सामूहिकश्रमं प्रदर्शयन् अथर्ववेदीयशौनकसंहितेयः २०/१२५/२ सङ्ख्यको मन्त्रोऽस्ति ।

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः ॥[63]

अस्मिन् मन्त्रेऽपि पक्वान्नस्य कर्तनस्य वर्णनं प्राप्यते । सामूहिकश्रमेण अन्नवृद्धेः कामनाम् अथर्ववेदीयशौनकसंहितेयः २/२६/३ सङ्ख्यको मन्त्रः प्रदर्शयति ।

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥[64]

ऋत्वाधारितलोकगीतम्

लोके ऋत्वानुसारं भिन्नानि भिन्नानि लोकगीतानि गीयन्ते । एवमेव प्रकारेण अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामपि ऋत्वाधारितानां गीतानां समीक्षणमत्र प्रस्तूयते –

वर्षर्तोः गीतम्

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः सप्तमकाण्डस्य अष्टादशं सूक्तं वृष्टिसूक्तं वर्तते । अस्मिन् सूक्ते पर्जन्यदेवतायै कामना कृतास्ति यत् सः स्वदिव्यं जलम् अस्मभ्यं वर्षयेत् । इत्थं

---

[62] अ. शौ. सं. ३/१७/२ ; सातवलेकरभाष्यम्- (हे लोगों तुम हल जोतो जूओं को फैलाओ अच्छी प्रकार भूमि तैयार करने के बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्न की उत्तम उपज होगी बहुत धान्य उपजेगा और परिपक्व होने के बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ।)

[63] सातवलेकरभाष्यम् –(हे प्रिय इंद्र जैसे जाओ को बोने वाले किसान जौं को पृथक् करके बहुत करके काटते हैं, वैसे यहां वहीं इनके भोग का इनके लिए निर्माण करो, जो यज्ञ का त्याग नहीं करते ।)

[64] सातवलेकरभाष्यम् – (घोड़े आदि सब पशु तथा मनुष्य भी मिलजुल कर चलें और रहें । धान्य भी मिलकर बढ़े| सब को मिलाने वाले हवन से मैं यज्ञ करता हूं ।)

सूक्तमिदम् उत्तमवृष्टेः कामनायां प्रवृत्तं वर्तते । शौनकसंहितायाः सप्तमकाण्डस्य एकोनचत्वारिंशं सूक्तम् (७/३९) यथाहि –

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम् ।

अभी पतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयति ॥[65]

अथर्ववेदस्य अनेकेषु सूक्तेषु आपः देवताः, पर्जन्यो देवता वा श्रूयन्ते । ऋतुषु सर्वाधिका महत्त्वपूर्णा ऋतुः वर्षर्तुर्भवति । जीवनस्य आधारः जलम् अस्ति, अतः लोकोक्तिः प्रसिद्धा वर्तते – **"जल ही जीवन है" "जलमेव जीवनम्"** । आवर्षं जलस्य आवश्यकता भवति । वर्षर्तौ एव वर्षं यावदुपयोगक्षमं जलं वृष्टं भवति । वर्षर्तौ भवित्र्योत्तमवृष्ट्या अन्यास्वप्यृतुषु जलस्य अभावो नैव भवति । अतः वैदिककविभिः वर्षर्तोः महत्त्वं प्रदर्शयद्भिः वर्षर्तुविषयकानि अनेकानि सूक्तानि अभिव्यक्तानि । प्रवृत्तिरियम् अथर्ववेदीयशौनकसंहितेयप्रथमकाण्डस्य द्वितीयसूक्तादेव आरभते । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाम् ऋतोरस्याः महत्ता एतावतैव अवगम्यते यत् जलस्य कृते वैदिकर्षयः तिस्रः देवताः जलदेवतात्वेन स्वीकृतवन्तः तथा च ताभ्यः अनेकानि सूक्तानि समर्पितवन्तः । यथा – प्रथमकाण्डस्य २,३,४,५,६,१०,२०,३३ सूक्तानि सन्ति ।

एवं प्रकारेण अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः प्रथमकाण्डीयेषु पञ्चत्रिंशति सूक्तेषु अष्टसूक्तानि अद्भ्यो देवताभ्यः पर्जन्यदेवतायै वरुणदेवतायै च अर्पितानि सन्ति । एतानि अतिरिच्य अन्येषां काण्डानां सूक्तानि ऋचश्च प्राप्यन्ते । तानीमानि सूक्तानि सन्ति – ४/१५, ९/१०/२२, ६/२२/२

षड्ऋतुनां वर्णनं सर्वप्रथमं अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामेव प्राप्यते –

---

65 अ. शौ. सं. ७/३९/१ ; सातवलेकरभाष्यम् (आकाश में रहने वाले जल को धारण करने के कारण जल से परिपूर्ण, जल की बडी वृष्टि करने वाले, औषधि वनस्पतियों का गर्भ बढाने वाले सब प्रकार से वृष्टि द्वारा तृप्ति करनेवाले, शोभा युक्त स्थान में रहने वाले मेघ को देव हमारि गौशाला की भूमि में स्थापित करें, अर्थात् हमारी भूमि में उत्तम वृष्टि होवे ।)

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात् ।

आ नो गोषु भजता प्रजयां निवात इद्धः शरणो स्याम् ॥ [66]

एताः षड्ऋतवो वर्षस्य कालगतभेदं सूचयन्ति । एतासु षड्त्स्वप्यृतुषु सर्वोत्तमा ऋतुर्वसन्तो मन्यते । अतः गीताया दशमे अध्याये कृष्णोऽपि एतां पुपोष –

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्रीं छन्दसामहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥[67]

भगवता श्रीकृष्णेन निगद्यते गीयमानेषु योग्यश्रुतिषु बृहत्सामोऽहं छन्दस्सु गायत्रीछन्दोऽहं, मासेषु मार्गशीर्षः, ऋतुषु वसन्तोऽहम् अस्मि ।

संस्काराधारितलोकगीतम्

प्रसन्नावस्थायां मनुष्येण गीतानि गीयन्ते । मनुष्या आत्मीयजनानां संस्कारेषु अपि हर्षिताः प्रफुल्लिताश्च भवन्ति । तत्तद्वेलायां स्वहर्षातिशयं गीतैरभिव्यनक्ति मनुष्यः । संस्कारवेलायां गीयमानान्येनानि गीतानि लोकमानसस्य आदिमाभिव्यक्तीरपि अभिव्यञ्जन्ति । ताः तु अभिव्यक्तयः परम्परया प्राप्ताः सन्ति । हिन्दूधर्मे सामान्यतया सर्वेषां संस्कारणां उप्लक्ष्ये लोकगीतानां गानस्य परम्परा निबद्धा अस्ति । वर्तमाने नामकरणं चूडाकर्म विवाहश्च विशेषेन सम्पद्यमानाः भवन्ति तस्मात् एषां एषां प्रतिपालनावसरेव गीयमानानि लोकगीतानि अवशिष्टानि प्राप्यन्ते । एषु अपि विवाहसंस्कारस्य विशेषेन उल्लासेन सम्पद्यमानतायाः हेतोः विवाहसंस्कारे एव गीयमानानि गीतानि प्राचुर्येन उपलभ्यन्ते । आधुनिकविद्वद्भिः संस्कारेषु प्रचलितानां लोकगीतानां वर्गषण्मयं सम्पादितमिति । ते च वर्गाः सन्ति – 'सोहरावसरे गीयमानानि गीतानि, मुण्डन अवसरे गीयमानानि गीतानि, यज्ञोपवित अवसरे गीयमानानि

---

[66] अ. शौ. सं. ६/५५/२ , सातवलेकरभाष्यम् (वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, और शिशिर ये सब ऋतु हमे उत्तम अवस्था में धारण करें हमें गौओं और प्रजाओं में सुख का भागी करें तुम्हारे शाथ निश्चय से हम वातादि के उपद्रव रहित घर में रहें ।)

[67] श्रीमद्भगवद्गीता १०/३५

गीतानि, विवाह् अवसरे गीयमानानि गीतानि, गौना अवसरे गीयमानानि गीतानि, मृत्युः अवसरे गीयमानानि गीतानि, केषुचित् प्रदेशेषु गर्भधारणात् अष्टमे मासि अपि समायोजितायोजनेषु लोक गीतानं गानस्य परम्परा उपलभ्यते। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां प्राप्तानां संस्कारवेलायां गीयमानानां गीतानां परिशीलनं लोकसाहित्यस्यावधारणामूल्याङ्कनदृशा वैशिष्ट्यं भजते।

अथर्ववेदे प्राप्तानि गर्भाधानसंस्कारसम्बन्धितानि गीतानि

अथर्ववेदे – ६/१७, ३/२३, ६/११ सूक्तानि सन्ति।

अथर्ववेदे प्राप्तानि चूडाकर्मसंस्कारसम्बन्धितानि गीतानि

अथर्ववेदे – ६/६८ सूक्तम्।

अथर्ववेदे प्राप्तानि उपनयनसंस्कारसम्बन्धितानि गीतानि

अथर्ववेदे – ६/१३३, ५/२८ सूक्ते

अथर्ववेदे प्राप्तं विवाहसंस्कारसम्बन्धितगीतम् –

अथर्ववेदे – १४/१ सूक्तम्।

व्रताधारितलोकगीतम्

जनैः अभीष्टसिद्धये व्रतानि आचर्यन्ते प्रत्येकं देवतायाः पूजार्चनस्य तन्निमित्तं च व्रतोपवासस्य विशिष्टा एका प्रणाली हिन्दूसमाजे अनुमोदिता अस्ति। कासाञ्चित् देवतानां निमित्तं निराहारव्रतानि तपश्चर्यत्वेन श्रूयन्ते। कासाञ्चित् देवतानां च निमित्तं फलाहारपूर्वकं व्रतानां आचरणं श्रूयते। उदाहरणार्थं कार्तिकशुक्लषष्ठ्यां षष्ठीमातुः व्रतं अनेकेषु स्थानेषु आचर्य्यते। वस्तुतः व्रतमिदं सूर्यदेवतायाः निमित्तं तथापि षष्ठीतिथौ अस्य सम्पन्नता भवति येन षष्ठीमातुः व्रतत्वेन इदं श्रूयते। व्रतेऽस्मिन् यानि गीतानि गीयन्ते तत्र पुत्रस्य कृते मर्मस्पर्शिनिप्रार्थनाः श्रूयन्ते। व्रतेऽस्मिन् उदितसूर्यस्य कृते अर्घ्यं समर्प्यते तथा च अर्घ्यदानकाले गीतं गीयते –

“हाली हाली उग ए उदित अमल। अरग। दिया उ।”

“उगह हे सूरज देव भेल भिनसरवा
अरघ के रे बेरवा हो पूजन के रे बेरवा हो
बड़की पुकारे देव दुनु कर जोरवा
अरघ के रे बेरवा हो पूजन के रे बेरवा हो

बाझिन पुकारें देव दुनु कर जोरवा
अरघ के रे बेरवा हो पूजन के रे बेरवा हो
अन्हरा पुकारे देव दुनु कर जोरवा
अरघ के रे बेरवा हो पूजन के रे बेरवा हो

निर्धन पुकारे देव दुनु कर जोरवा
अरघ के रे बेरवा हो पूजन के रे बेरवा हो
कोढ़िया पुकारे देव दुनु कर जोरवा
अरघ के रे बेरवा हो पूजन के रे बेरवा हो
लंगड़ा पुकारे देव दुनु कर जोरवा”

मनुष्यः स्वलक्ष्यं प्राप्तये सङ्कल्पं विदधाति। अथर्ववेदकालीनसंस्कृतौ अपि व्रताधानस्य प्रचलनं दृश्यते। यथाहि -

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥[68]

[68] अ. शौ. सं.१०/७/११

व्रतानां पालनेन मनुष्यः सद्गुणी भवति, तथा च व्रतपालनकर्तुः शक्तिर्वर्धते, दृढनिश्चयी च सः भवति । व्रतस्य माहात्म्यं दर्शयन्त्योऽनेका ऋग्रूपाः गीताः दृश्यन्ते । यथा व्रतस्य विषये यजुर्वेदस्य एकः अत्यन्तः प्रसिद्धः मन्त्रः –

व्रतेन दीक्षामाप्नोति....[69]

एवमेव प्रकारेण व्रताय अर्पितानि अनेकानि गीतानि अथर्ववेदेऽपि प्राप्यन्ते –

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।

शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शं वस्तु वायुः ॥[70]

राष्ट्राधारितं लोकगीतम्

राष्ट्रस्य उन्नतये, सुरक्षायै, स्वतन्त्रतायै देशस्य प्रत्येकमपि वासी समुद्यतो भवति । वैदिकचिन्तनधारायां स्वराष्ट्रस्य उन्नत्यर्थं, स्वतन्त्रतायै सुरक्षायै च आदर्शत्वेन विचारः समाजाय प्रतिस्थापितः । वैदिककविभिः स्थापितानि राष्ट्रवन्दनायाः गीतानि अद्य पर्यन्तं गीयन्ते । राष्ट्रे स्वराज्यस्य कल्पना सर्वप्रथमम् ऋग्वेद एव दृश्यते । ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य अशीतितमं सूक्तं (१/८०) स्वराज्यसूक्तरूपेण ज्ञायते । इदं सूक्तं स्वरूपतया अपि लोकगीतमेव दृश्यते । अस्य सूक्तस्य मन्त्रेषु **“अर्चन्ननु स्वराज्यम्”** इत्यस्य लोकगीतवत् टेक् इत्यपि प्राप्यते ।

---

[69] यजुः. १९/३०

[70] सातवलेकरभाष्यम्- पदार्थः- पृथिवी अपने अनेक व्रतों से हमें शान्ति देनेवाली हो । उत्तम गति वाले वायु हमारे लिये शान्ति दें । विष्णु हमे शान्ति देवे , पुषा हमे शान्ति देवें उत्पत्ति स्थान हमें शान्ति देने वाले हो ,वायु शान्ति देने वाला हो । अ. शौ. सं. १९/१०/९

यजुर्वेदेऽपि राष्ट्रं प्रति जागृतिभावपोषिकोक्तिः प्राप्यते – **"वयं राष्ट्रे जागृयामः पुरोहिताः"**[71] उक्तिरियं लोकवार्तायाः सन्दर्भत्वेन उद्धर्तुं शक्यते। उक्तिरियं यत्र राष्ट्रियैकतायाः प्रतीकभूता तत्रैव समाजे जनानां परस्परं सामञ्जस्यमपि पोषयति। समनस्काः जनाः एकवाण्या संकल्पं धारयन्तः सन्ति। अनयैव भावनया राष्ट्रस्य विखण्डनभावयित्रीभ्यः शक्तिभ्यः रक्षणं भवति। अस्मिन्नेव वेदे राष्ट्रस्य सर्वाङ्गीणोन्नतेः कामना एकस्याम् ऋचि दृश्यते। अस्याम् ऋचि लोकगीतवत् 'टेक्' इत्यस्यानुसरणं दृश्यते। **"जायताम्"** इतीदं पदं बारं – बारं वाक्यान्ते प्रयुक्तं वर्तते। इयं ऋक् अद्यापि राष्ट्रियोन्नतये प्रार्थनायाः रूपेण गीयते। यथाहि -

> आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥[72]

राष्ट्रस्य सङ्कल्पनायाः कृते आवश्यकमस्ति भूभागः। भूमिरेव कस्यचिदपि राष्ट्रस्य आधारो भवति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितेयकविभिः भूमिः मातृत्वेन निरूपिता। अस्याः वन्दनायां त्रयःषष्टिमन्त्रात्मकं सूक्तं समर्पितम्। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामेव सर्वादौ भूमिः मातृत्वेन परिकल्पिता। भूमेर्विषये भावनेयं मानवस्य आदिमाभिव्यक्तेरेव परिचायिका अस्ति। इतोऽपि लोकमानसम् उद्वहन्ती परम्परारूपेण वैदिकपरम्पराद्वारा भूमेर्विषय इयं भावना अद्याऽपि पोपुष्यते तथा च वैदिकमतावलम्बिभिः अद्याऽपि भूमिः मातृत्वेन अनुमत्वा अस्या उन्नतये विजयघोषो घोष्यते।

---

[71] यजुः. ९/२३

[72] यजुः. २२/२२

इतोऽपि अथर्ववेदीयशौनकसंहिताया अनेके मन्त्राः राष्ट्रस्य विश्वकल्याणस्य च भावनाभिः संलिप्ताः दृश्यन्ते । १३/१ सूक्ते अनेकानि वैदिकगीतानि राष्टीयोन्नत्याः पथप्रदर्शकरूपेण सन्ति । यथाहि –

उदेहि वाजिन् यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत् ।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥
उद्वाज आ गन् यो अप्स्वन्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः ।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥
यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
आ वो रोहितः शृणवत्सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥
रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम् ।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्न् इह राष्ट्रमाहाः ॥[73]

शौनकसंहितायाः ६/१२०/२ मन्त्रेऽपि भूमिः मातृत्वेन, द्युलोकः पितृरूपत्वेन, अन्तरिक्षञ्च भातृत्वेन उपवर्णितानि सन्ति ।

---

[73] अ. शौ. सं.. १३/१/१-४ ; सातवलेकरभाष्य- (१ प्रत्येक आत्मा अभ्युदय और निश्चय से प्राप्त करें । प्रत्येक मनुष्य राष्ट्र की उन्नति के साथ अपनी उन्नति करें। अपने राष्ट्र पर प्रेम करें और उसकी उन्नति करने का प्रयत्न करें । इस सूर्यदेव ने इस जगत की उत्पत्ति की है, वही तुम्हें राष्ट्रीय उन्नति करने के लिए हृष्ट -पुष्ट करेगा।)

२ सातवलेकरभाष्यम् –(मनुष्य का सामर्थ्य वही है जो उसके प्राण में विद्यमान हैं। उस सामर्थ्य से युक्त होकर अपनी सजातीय प्रजा में, अर्थात् अपने राष्ट्र में रहकर अभ्युदय प्राप्त करना चाहिए। यहां अपने राष्ट्र में रहकर वनस्पतियां, जलस्थान, औषधियां ,गौवें और अनेक द्विपाद तथा चतुष्पाद पशुओं का धारण करें)

३ सातवलेकरभाष्यम्-(सब लोग अपनी मातृभूमि की रक्षा अपने उग्र शौर्य से करें। मातृभूमि के शत्रुओं का नाश करें। मन में उदारता युक्त दातृत्व का भाव धारण करें। जो वीर मरने तक लड़ने वाले होते हैं , वे ही उत्तम आनंद देने वाले होते हैं।)

४ सातवलेकरभाष्यम्-(यह सूर्य उदय को प्राप्त हुआ है, मानो यह अपनी माता की गोद में बैठा है। इस समय मानों छहों दिशाओं ने उस गर्भ का धारण किया है। यह गर्भ आगे उन्नत होता है, स्वयं उन्नति का मार्ग जानता है और राष्ट्र को भी उन्नत करता है।)

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः ।

द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात् ॥[74]

भारतीयजनमानसे 'भूमिशयनस्य' विश्वासः दृश्यते, यस्मिन् यदा कश्चित् जनः मृत्युम् अवाप्नोति तदा स एकबारं भूमौ शाय्यते । तद्विधाने विश्वासोऽयं भवति यत् अधुना अयं स्वमातुः क्रोडे अचिराय सुप्तो जातः । इयं प्रक्रिया 'भूमिशयन'सञ्ज्ञया अभिधीयते। भारतीयजनसमुदाये चरणरजसो विश्वासो बहुसशक्तोऽस्ति, एवं तु पृथ्वी मातृरूपेण मन्यते एव, परं यस्यां भूमौ महापुरूषाणां, मातापितृणां, गुरूणां च चरणस्पर्शो जायते तत् क्षेत्रं पवित्रं जायते । तथा च महापुरूषाणां चरणैः स्पृष्टां धूलिं पवित्रां मत्वा शिरसि धारणं सौभाग्यस्य मङ्गलस्य वा सूचकं मन्यते । बहवो गुरुभक्ताः चरणरजसं जले मिश्रीकृत्य स्वगृहेषु मार्जयन्ति येन तेषां गृहाणि पवित्राणि स्युः । एवमेव बहुषु स्थानेषु दृश्यते यत् दुष्टदृष्टिः न पतेत् एतदर्थं मातरः स्वकीयरजस्य उपयोगं कृष्णचिह्नरूपेण (काला टीका) कुर्वन्ति । यदा काचिद् माता स्वकीयं सुतं नीत्वा गृहाद् बहिर्गच्छति यदि च विस्मरणवशात् सा 'कृष्णचिह्नं' न कृतम् तदा सा स्वशिशुं दुष्टदर्शनाद् रक्षणाय स्वस्यैव चरणरजस्य उपयोगं करोति । भारतस्य काश्चित् जातयः पृथ्वीं देवतारूपेण पूजयन्ति । विपत्तिकाले च तां प्रार्थनां याचनां चापि कुर्वन्ति ।

राष्ट्रस्योन्नतिना सहैव राष्ट्रस्य निवासिनां कर्तव्यानामपि वर्णनं प्राप्यते । राष्ट्रस्य नागरिकानां व्यवहारः सत्येन युक्तः तेजोमयश्च स्यात् ।

उदेहि वाजिन् यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत् ।

यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥[75]

देशस्य निवासिनः स्वावलम्बिनः स्युः ।

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।

---

[74] अ. शौ. सं. ६/१२०/२

[75] अ. शौ. सं. १३/१/१

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥[76]

उत्तमराष्ट्रस्य सङ्कल्पना अपि अथर्ववेदे प्राप्यते, यस्यां वसनार्थं अन्यदेशस्थाः जनाः आगन्तुमुत्सुकाः भवन्ति ।

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः ।

एवं प्रकारेण वैदिकसहित्यमेकोत्तमराष्ट्रनिर्माणस्य प्रत्येकस्मिन् पक्षे प्रचूर्तया गीतानि प्रस्तौति ।

लोककथाः

'कथा' शब्दस्यार्थो वर्तते – वृत्तान्तः, वार्तालापः, आख्यायिका इत्यादिः ।[77] अत्र 'लोक'शब्दो विशेषणरूपेण प्रयुक्तोऽस्ति । लोकसाहित्यस्य आधारभूतमङ्गं वर्तते 'लोककथा' इति । मौखिकपरम्परया प्रवर्तमानाः कथाः सांस्कृतिकविकासेन सह कालान्तरे सङ्कलिताः । इत्थं 'लोककथा'नाम्ना अध्ययनधारा अपि उद्भूता जाता । "लोककथा" मानवसमूहस्य सा समवेताभिव्यक्तिर्भवति या कथामाध्यमेन अभिव्यक्ता भवति । लोककथासु तस्य मानवसमूहस्य लोककलाः लोकवास्तुः, लोकगीतानि, लोकोत्सवाश्च सङ्गृह्यन्ते । एकैका कथा अपि विविधसन्दर्भेषु अञ्चलेषु च स्वात्मनः स्वरूपं परिवर्त्य परिवर्तते । पञ्चतन्त्रस्य बह्वयः कथाः जन-जीवनस्य अभिव्यक्तिभूता एव सन्ति । ग्रन्थस्याऽस्य शैलीं परिशील्य वक्तुं शक्यते यत् पञ्चतन्त्रस्य कर्त्रा लोकजीवने प्रचलिता अनेकाः कथाः तथावदेव गृहीत्वा शिष्टसाहित्यत्वेनोपस्थापिताः ।

---

[76] अ. शौ. सं. १२/१/२२

[77] आप्टे, वामनशिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, सं. (२०१६) चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी पृ. २४२

कथावाचनस्य प्रवृत्तिः सांस्कृतिकविकासस्य आदिमावस्थायामेव विकसिता पुष्पिता च जाता। लोककथासु तत्त्वमिदमेवावश्यंभावि ज्ञेयं यत् ताः लोकजीवनेन सह योजिता एव भवेयुः। कथानां कथानकः प्रत्यक्षोऽपि भवितुं शक्यते परोक्षोऽपि। कुलपरम्परया विद्यावंशेन वा स्थानपरम्परया वा काश्चित् कथाः प्राप्यन्ते। कदाचित् कथासु श्रुतघटनाः अनुभूय कथावक्ता कथाम् अभिव्यनक्ति। तस्मादेव एकैकस्या अपि कथायाः अनेकानि संस्करणानि समुपलभ्यन्ते। एतासु जनानां सहजाभिव्यक्तिर्भवति तथा च लोकपरम्पराणां लोकप्रथानां लोकविश्वासानाञ्च सन्निवेशोऽपि दृश्यते। सङ्कलिताः याः लोककथाः प्राप्यन्ते, तासां रचयितॄणां विषये किमपि न प्राप्यते। मौखिकपरम्परया प्राप्तानामेतासां प्रायशः शतशोऽपि अधिकेन परिवर्तनं जातम् तथापि मूलभावना अपरिवर्तितैव दृश्यते। तस्मादवितथमिदं यल्लोककथा लोकजीवनेन सहैव मौखिकपरम्पराद्वारा प्रवहति।

संस्कृतकाव्यपरम्परायां कथानां सङ्ग्रहणकाले 'लोककथा' इत्यभिधानं न युज्यते स्म अपितु लोकवार्तानां कृते 'कथा' इत्येव नाम प्राप्यते।[78] संस्कृतसाहित्यपरम्परायां कथायाः भेदद्वयं दृश्यते –१.) कथाः २.) आख्यायिकाश्च। लोकजीवनेन सम्बद्धं कथानकमाधाया कथावस्तुनो निर्माणं कविना कल्पनाद्वारा क्रियते। यथा बाणभट्टेन लिखिता कथा कादम्बरी। यस्याः योजनम् ऐतिहासिकं वर्तते सा आख्यायिका इत्युच्यते। यथा बाणभट्टस्यैव हर्षचरितम्।

आचार्येण आनन्दवर्धनेन त्रिविधाः कथा उल्लिखिताः।[79] उक्तालोचनेन प्रश्नरुदेति यत् कथायाः लोकधर्मिता कदा विकसिता जाता ? वस्तुतः कथाया लोकधर्मितां सविशेषेण व्याख्यातुमेव आधुनिकैर्विद्वद्भिः "लोक"इति विशेषणं तत्र योजितम्। आधुनिकसमये लोकस्य विशेषव्याख्या जाता। तद्दिशि एव संस्कृतकथाः अपि लोककथाः इत्युच्यन्ते।[80] लोक–शास्त्रमर्मज्ञकृष्णदेवोपाध्यायद्वारा लोककथा विषयदृष्ट्या षड्धा विभज्यते – १.)

---

[78] बृहत्कथा, बृहत्कथामञ्जरी, कथासरितसागर, कथार्णव – एतदाख्या ग्रन्थाः प्राप्यन्ते।

[79] १) परिकथा, २) सकलकथा, ३) खण्डकथा आनन्दवर्धनः-ध्वन्यालोक

[80] बृहत्कथा, वेतालपंचविंशतिका, सिंहासनद्वत्रिंशिका, शुक्रसप्ततिरित्यादयः कथाः।

उपदेशात्मिका कथा, २.) व्रताधारिता कथा, ३.) प्रेम्ण आधारिता कथा, ४.) मनोरञ्जनात्मिका कथा, ५.) समाजाधारिता कथा, ६.) पौराणिकी कथा इति ।[81]

- **अथर्ववेदीयशौनकसंहितान्तर्गतकथाः**

वैदिककाले लोककथासाहित्यस्य किं स्वरूपमासीत् इति विषये स्पष्टतयोल्लेखो न प्राप्यते परन्त्वत्र संकेतोऽवश्यं लभ्यते । वैदिकसाहित्ये प्राप्तव्याः गाथाः नाराशंसी च लोककथात्वेन अभिधातुं शक्याः । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः चतुर्दशकाण्डस्य प्रथमसूक्तस्य सप्तमे मन्त्रे गाथायाः नाराशंस्याश्च नाम्नरुल्लेखः प्राप्यते । यथाहि -

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।

सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता ॥[82]

गाथा यत्र गेयात्मतां व्यक्तीकरोति तत्रैव नाराशंसी वीराणां शौर्यस्य गाथाम् अभिव्यनक्ति । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां आधुनिकसन्दर्भानुसारं परिभाषितकथावधारणानुगुणं कथाः न प्राप्यन्ते परन्तु केचन प्रसङ्गाः तथा प्राप्यन्ते ये च विद्वद्भिः शौनकसंहितेयकथासाहित्यत्वेन दृश्यन्ते । एताः कथाः विवाह-मंगल-यज्ञादिशुभावसरेषु गानरूपेण गायन्ति । एतासु गाथासु देवतानां तथा च व्यक्तिवाचकचरित्राणामपि वर्णनं प्राप्यते । अत्र प्रमुखकथानां वर्णनं क्रियमाणं वर्तते यत्तु विभिन्नदेवताभिः सम्बद्धं वर्तते ।

- **इन्द्रमाधाय प्रवर्तमानाः कथाः**

वैदिकसाहित्ये देवतेयं पराक्रमिदेवतात्वेन गण्यते । सम्पूर्णेऽपि वैदिकसाहित्ये इन्द्रस्य विषये बह्व्यः कथाः प्रचलिताः सन्ति । आसु कथासु इन्द्रवृत्रयोः प्रसङ्गः सर्वाधिको महनीयोऽस्ति । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां 'वृत्रघ्नः' नाम्ना इन्द्रस्य वर्णनं प्राप्यते ।[83] ऋग्वेदः इन्द्रवृत्रयोः युद्धवर्णनं विश्रुतमस्ति । यत्र इन्द्रेण विजयः समश्यते । इन्द्रेण नमुचिदैत्यस्य हननं जलफेनकेन

---

[81] लोक साहित्य की भूमिका पृ. १२९ (संस्कृत लोककथा में लोक जीवन पृ. १४)

[82] अ.शौ.सं. १४\१७ (हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार भाष्य विवाह के समय (रैभी) प्रभु स्तवन करने वाली ऋचा ही (अनुदेयी) इसका दहेज (आसीत्) था।………आती है ।)

[83] अ.शौ.सं. ४.२४

क्रियते इति कथा लोकजीवनस्यांशभूतेव वर्तते। अस्य सङ्केतोऽथर्ववेदीयशौनकसंहितायामपि प्राप्यते ।[84] इन्द्रस्य तथा कालकञ्जस्य दन्तकथा अपि प्रसिद्धा वर्तते । यस्याः सङ्केतोऽथर्ववेदीयशौनकसंहितायां प्राप्यते ।[85] कथेयं तैत्तिरीयब्राह्मणेऽपि प्राप्यते । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ४.२४ सूक्त इन्द्रस्य वृत्रस्य मिथो युद्धवर्णनं प्राप्यते। अत्र इन्द्रो विजयित्वेन दर्शितोऽस्ति । इन्द्रमाधाय अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाम् अन्येषां कथानां सङ्केतोऽपि प्राप्यते। ते प्रसङ्गास्त्विमे वर्तन्ते – २०/२९/३, ७/३८/२, १४/१/४१।

- **सोमश्येनमाधाय प्रवर्तमानाः कथाः**

सोमश्येनस्य विस्तृता कथा ब्राह्मणेषु प्राप्यते परम् अस्याः सङ्केतस्तु अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामपि ६/४८ तमे सूक्ते लक्षितो भवति।

- **अग्निदेवतामाधाय प्रवर्तमानाः कथाः –**

वैदिकवाङ्मयेऽग्निरत्यन्तं महत्त्वास्पदं देवतात्वेनोपवर्णितोऽस्ति । शौनकसंहितायाम् अग्निमाधाय कथाः प्राप्यन्ते ।[86] कथानुसारम् अग्नेरग्रजत्रयं परिगण्यते । यज्ञकर्मसु एषां त्रयाणामुद्भावनायाः प्रसङ्ग आयाति । एतत्कथानुसारं त्रिष्वपि अग्निषु क्षीणेषु सत्सु चतुर्थोऽग्निः प्रादुर्बभूव। एषोऽपि स्वाग्रजानां कथां श्रुत्वा भयेन भीतः सन् जले प्रविश्य उपविष्टः । परन्तु ऋषिभिः सोऽन्विषितरित्थञ्च प्राप्तः। अपाला-इन्द्रस्य कथायाः सङ्केतः ऋग्वेद एवञ्च अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां दृश्यते । अपाला-इन्द्रस्य च कथा लोके प्रसिद्धा वर्तते । कथानुसारम् अपाला कुष्ठरोगेण ग्रसिता आसीत् अतः तस्याः पतिः तां त्यजति। एकस्मिन् दिने अपाला नद्याः तीरे स्नानार्थं गच्छन्ती आसीत्, तदा तया सोमलता दृष्टा। सा तां सङ्गृहीतवती

---

84 अ.शौ.सं.२०/२९/३

85 अ.शौ.सं. ६/८/२

86 अ.शौ.सं. १/१६/१, १/२५/१, ६/११३/१

। तत्काल इन्द्रः ततो गच्छन्नासीत् । अपाला इन्द्रं दृष्ट्वा सोमरसम् समर्पितवती । इन्द्रोऽपि प्रसन्नो भूत्वा तस्याः मनोकामनां पूरितवान् ।[87]

- **विवाहमाधाय प्रवर्तमानाः कथाः –**

कथाः विभिन्नप्रकारका भवन्ति । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामपि 'यम-यमी' एतयोः कथा तथा च सरण्योर्वैवस्वतेन विवाहस्य कथा प्राप्यते । सरण्योः पुत्रद्वयमासीत् । पुत्रयोः जन्मनोऽनन्तरं सरण्युः स्वसदृशीम् अन्यां स्त्रीं स्वास्तरणे उपवेश्य अश्वरूपं धृत्वा धावितवती । वैवश्वतः एतस्य सर्वस्यागमकः आसीत् । तेन सरण्योरनुरूपायाः तस्या एकः पुत्ररुत्पादितः स च 'मनुः' अभिधानेन प्रसिद्धिम् अभजत् । कालान्तरे यदा वैवस्वतो ज्ञातवान् यत् सरण्युरश्वीभूत्वा धावितवती तदा ताम् अन्वेष्टुम् अश्वरूपं धृत्वा सोऽपि प्रस्थितः । ततः द्वयोः समागमनेन पुत्रद्वयं जातं यौ तु 'अश्विनौ' नाम्ना प्रसिद्धौ बभूवुः ।

वेदस्याभिचारसाहित्यम्

कृष्णद्वैपायनमहर्षिवेदव्यासेन जनसामान्यस्य जीवनेन सम्बद्धं यद्विशिष्टानां मन्त्राणाम् अध्यापनं 'सुमन्तु'नामानं शिष्यं कारितं, त एवाथर्ववेदनाम्नः प्रसिद्धो जातः । अस्य वेदस्य व्यवहारिकजीवनेन ऐहिकजीवनेन इत्थं भारतीयलोकमानसेन सह गूढः सम्बन्धो दृश्यते ।

अस्य वेदस्य अनेकानि तानि नामानि प्रथन्ते यानि प्राप्तव्यविषयमाधाय प्रवर्तन्ते । तस्मात् प्राप्तव्यैहिकविषयाणां बाहुल्यं प्रदर्शयन्ति कानिचित् नामानि सन्ति तथा च कानिचित् ऐहिककाव्यवैशिष्ट्यमनुगुणम् एतन्मन्त्रद्रष्टॄणाम् ऋषीणां नाम्नामनुगुणं प्रथन्ते –

(१) अथर्ववेदः (२) भृग्वङ्गिरो वेदः (३) छन्दोवेदः

[87] ऋ. ८/९१/७ अ.शौ.सं. १४/१/४१

(४) महीवेदः	(५) क्षत्रवेदः	(६) ब्रह्मवेदः
(७) भैषज्यवेदः	(८) अङ्गिगरसवेदः	(९) अथर्वाङ्गिगरसवेदः।

क.)अथर्ववेदः

प्राप्ताथर्ववेदीयशौनकसंहितायां पञ्चसहस्रोत्तरनवशताधिकसप्ताशीतिः मन्त्राः सन्ति। एतेषु एकसहस्रद्वादशोत्तरषड्शतम् मन्त्राणां द्रष्टा अथर्वा वर्तते । अनेकैः अथर्वनः गोत्रापत्यैरपि शौनकसंहितेयमन्त्राणां दर्शनं कृतम् । प्राप्तसंहितायाः एकसहस्रद्विसप्ततिउत्तरसप्तशतं सङ्ख्यकानां मन्त्राणां द्रष्टारोऽथर्वनानुप्राणिता आर्षपरम्परा । तस्मादयं वेदोऽथर्ववेदनाम्ना प्रसिद्धिमाप्तम् ।[88]

ख.) भृग्वङ्गिगरो वेदः

अथर्ववेदस्य इदमपि नाम गोपथब्राह्मणे प्राप्यते ।[89] भृग्वङ्गिगरेण एतत्प्रवर्तितपरम्परया च प्राप्तसंहिताया अष्टचत्वारिन्शतुत्तरपञ्चशतं मन्त्राणां दर्शनं कृतम् ।

ग.)छन्दोवेदः

छन्दसां प्राधान्यादस्य वेदस्य नाम छन्दस् उत् छन्दोवेदो वर्तते। अथर्ववेदस्य छन्दोनाम ऋग्वेदे यजुर्वेदेऽथर्ववेदे च प्राप्यते।[90]

घ.)महीवेदः

अथर्ववेदस्येदं नाम प्राप्तसंहितायां महीवर्णनसमुपलभ्येन तथा च ब्रह्मविद्यायाः प्रकर्षातिशयेन वर्णनसमुपलभ्येन वर्तते। अस्येदं नाम अथर्ववेदेऽपि प्राप्यते ।[91]

ङ.)क्षत्रवेदः

---

[88] देशतयानाथर्वणानार्षेयान्निरमिमतैकादशान्। गोपथब्राह्मण १/१/५

[89]गो.ब्रा. १/३/१ २/२/५ २/९/१८,२२ १/१/२८,२९,३१ ३/१/४,५,११,२५

[90] अ.शौ.सं.११/७/२४ ऋ. १०/९०/९ यजुर्वेद ३१/७

[91] अ.शौ.सं.१०/७/१४

अथर्ववेदस्य इदमभिधानमपि संहितायां वर्णितविषयगतवैशिष्ट्येन वर्तते । संहितायामस्यां राष्ट्रं सञ्चालयितुं राष्ट्रधर्मस्य राजकर्मणाञ्च विशदरूपेण वर्णनं प्राप्यते । राजनीतिस्तु प्राधान्येन क्षत्रियवृत्तित्वेन निरूपिता अस्ति । तदेवाधाय वेदोऽय क्षत्रवेदरित्युच्यते ।[92]

च.) ब्रह्मवेदः

वेदविद्याविचारकेषु 'ब्रह्म' अभिधानं प्रसिद्धतमं वर्तते । अथर्ववेदस्य ब्रह्मणा दृष्टा मन्त्राः त्रिषष्ट्युत्तराष्टाशतं सन्ति । इतोऽपि ब्रह्मणः तात्त्विकावधारणा अथर्ववेदे प्राप्यते अतः अयं ब्रह्मवेदरित्युच्यते ।[93] गोपथब्राह्मणेऽपि अयं ब्रह्मवेदस्य अभिधानेन अभिहितो वर्तते ।[94]

छ.) भैषज्यवेदः

अथर्ववेदस्य अभिधानमिदं एतद्वेदस्य स्वास्थसम्बद्धविषयसामग्र्याः प्राचुर्यं द्योतयति । अत्र आयुर्वेदीयप्रतिपाद्या यथाहि औषधीनां वर्णनं, रोगाणां वर्णनम्, आयुष्यवृद्ध्याद्युपायानाञ्च विशद्रूपेण वर्णनं प्राप्यते । अतः अथर्ववेदस्य भैषज्यवेदः अथवा भिषग्वेदोऽन्वर्थसञ्ज्ञा विद्यते । अथर्ववेदस्य सञ्ज्ञेयं अथर्ववेदेऽपि प्राप्यते ।[95]

ज.) आङ्गिरसवेदः तथा अथर्वाङ्गिरसवेदः

अथर्ववेदस्य सञ्ज्ञ इमे प्राचीनतमे वर्तेते । एतयोर्नाम्नोः प्राचीनतायाः प्रमाणं स्वयमेव अथर्ववेदः उपस्थापयति ।[96] आङ्गिरसो नाम अङ्गिराऋषिः, तेषामपत्यैर्दृष्टत्वात् ।[97] अङ्गिरोभिः दृष्टाः मन्त्राः विंशत्युत्तरचतुःशतं वर्तन्ते । केषाञ्चित् दृष्टौ 'अथर्वाङ्गिरसौ' वर्तेते । अनेके मन्त्राः एताभ्यां संयुक्तरूपेण दृष्टाः सन्ति अतः द्वयोरेतयोर्नाम अपि संयुक्तरूपेण

---

92 उक्थं यजु...साम... क्षत्रंवेद। शत. ब्रा. – १४.८.१४.२-४

93 अ.शौ.सं.१५/५/६

94 ऋग्वेदो यजुर्वेदो ब्रह्मवेद इति। गो. ब्रा. १/२/१६

95 अ.शौ.सं.११/६/१४

96 अ.शौ.सं.१०/७/२० – म.भा. ३/३०५/२ याज्ञवल्क्यस्मृति १/३१२ संस्कृतवाङ्मयक बृहद् इतिहास पृ. ३३१-३२

97 गो.ब्रा. ५/१/८ शत.ब्रा. १३/४/३/८

स्वीक्रियते। अथर्ववेदस्य 'अथर्वाङ्गिरसः' नाम इदमाधाय एका शास्त्रीया धारणाऽपि प्रचलिता वर्तते। तदनुसारम् अथर्ववेदे द्विविधानां विषयाणामुल्लेखः प्राप्यते। एतेषु **"अथर्वन्"** पदद्वारा प्रथमप्रकारीयविषया व्यज्यन्ते तथा च अपरप्रकारीयविषयाश्च **"आङ्गिरस्"** पदद्वारा व्यज्यन्ते। यत्र **"अथर्वन्"** पदद्वारा माङ्गलिकविषयाणाम् इन्द्रजालप्रयोगा इङ्गिताः सन्ति। एत एव 'शान्तः' तथा पौष्टिकमित्युच्यते यथाहि रोगशमन-गरलनाश-भैषज्य-सुख-शान्ति-समृद्धि इत्यादिविभिन्नविषयाणां प्रार्थनाः एव इन्द्रजालमित्यादयः। तत्रैव **"आङ्गिरस"**पदेन अमाङ्गलिकानि तथा चाशुभकर्माणि इङ्गितानि भवन्ति। एतान्येव घोरकर्माणि इत्युच्यन्ते। घोरकर्मणां कृतेऽभिचारशब्दस्य प्रयोगः क्रियते। अभिचारस्य अर्थः हननम्। हननमिति तादृशमनुष्ठानं वर्तते यत्र हननार्थं कस्यचित् हानिः क्रियते। तन्त्रग्रन्थेषु सामान्यतः – मारणं, मोहनं, स्तम्भनं, विद्वेषणम्, उच्चाटनं तथा वशीकरणमिमे षड्विधाभिचाराः प्राप्यन्ते।

मारणम् – मारणनामकेन अभिचारेण कस्यचित् प्राणस्य हननं क्रियते।

मोहनम् – अयमभिचारः कस्यचित् मनःमुग्धार्थं प्रयुज्यते।

स्तम्भनम् – यानि घातकवस्तूनि सन्ति अथवा यानि कस्मिश्चित् कार्ये बाधामुत्पादयन्ति तानि स्तम्भनप्रयोगेन नाशयन्ते अथवा स्थिरीक्रियन् ते।

विद्वेषणम् – 'विद्वेषण' नाम्नोऽभिचारस्य प्रयोगः प्रेम्णो विभेदनाय तथा च मिथो द्वेषोत्पादनाय क्रियते।

उच्चाटनम् – अस्य प्रयोगेण मनसश्चाञ्चल्यं, अस्थैर्यं, मूढत्वञ्च अपक्रियते।

वशीकरणम् – वशीकरणद्वारा कस्यचित् मनः स्ववशीक्रियते। अस्य विशेषेणोपाख्यानं कौशिकसूत्रे ३/१९ प्राप्यते। एतेषां प्रयोगेण विरोधिजनानां विनाशो विधीयते। शत्रुनाश-कृमिनाशन-पिशाचवशीकरण-सपत्नीनाश-भूतप्रेतविनाशश्चानेन सम्पाद्यते। शुभाशुभयोः प्रतिपादकत्वादथर्ववेदस्य नाम 'अथर्वाङ्गिरस' इति स्वीक्रियते। अस्य मतस्य पोषकेषु

पाश्चात्यविदुषां एको बृहत्वर्गः सम्मिलितो वर्तते । तत्र व्यूल्म्फील्ड-ग्रिफिथ-विंटरनित्स-मैकडाँनल-इत्यादयो विद्वान्सः परिगण्यन्ते ।[98]

एभिर्विचारैः संपोषकैः विद्वद्भिरथर्ववेदोऽभिचारविषयकवेदत्वेनैव बुध्यते तथा च अथर्ववेदेऽभिचारविषयान् अन्वेष्टुं महान् प्रयत्नः तैः सम्पादितः । निम्नरीत्या अथर्ववेदीयाभिचारसमाग्री तैः निरूपिता -

१.माया, २.कृत्याप्रयोगः, ३.कृत्यानिवारणम्, ४.अभिशापः, ५.अभिशापनिवारणम्, ६.यातुधानः, ७.पापः, ८.शकुनविश्वासः, ९.कामनापूर्तिः, १०.वशीकरणं, ११.सम्मोहनम्, १२.रोगशमनं, १३.मणयः, १४.इन्द्रजालमिति- अथर्ववेदे एतान्यभिचारकर्माणि वर्णितानि सन्ति ।

- **मायेन्द्रजालं वा –**

माया नाम इन्द्रजालमिति । कृत्येऽस्मिन् केषाञ्चित् कार्याणां कौशल्यमपि प्रदर्श्यते । इन्द्रो विश्वस्य प्रथमः मायावी पुरुषः । मायाया अभिधानान्तरम् 'इन्द्रजालम्' इन्द्रस्यैव नामान्तरेण प्रयुज्यते। इन्द्रः ईश्वरो वर्तते । ईश्वरेण अयं सम्पूर्णोऽपि संसारः स्वशक्त्या जालवद्ग्रथितः तस्य जालेनैव सर्वे परस्परं ग्रन्थिताः वर्तन्ते । अस्य वर्णनम् शौनकसंहितायामपि प्राप्यते। यथाहि –

> इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
> यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥१॥[99]
> पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
> धूममग्निं परादृश्याऽमित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥२॥[100]

---

98 अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन पृ. ३५३

99 सातवलेकरभाष्यम्-(शूरवीर शत्रुओं के किलों को तोड़े और शत्रु-सैन्य को मथ डाले। हम भी सहस्रों शत्रुवीरों को मारें ॥१)

100 सातवलेकरभाष्यम्-(शत्रु-सेना पर हमला करने के लिये सिलगाई हुई बारूद की बत्ती शत्रु सैन्य में बदबूवाला धूवाँ उत्पन्न करे। जिस वेग को और ज्वाला को देखकर शत्रु भयभीत होवें ॥२)

अमून् अश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम् ।

ताजद्भङ्ग इव भजन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ॥३॥[101]

परुषान् अमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।

क्षिप्रं शर इव भजन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥४॥[102]

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥५॥[103]

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।

तेन शत्रून् अभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥[104]

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य ।

तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥७॥[105]

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।

तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥८॥[106]

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।

---

[101] सातवलेकरभाष्यम्-(घुड़सवार शत्रु को मारें। हमारे शत्रु को खाजावें, अर्थात् उनका नाश करें। हमारे वीर अपने शरी से शत्रु का नाश करें॥३)

[102] सातवलेकरभाष्यम्-(हमारा सेनापति अपने भाषण से हमारे सैनिकों को धीरज देकर कठोर बनावें। हमारे वीर शत्रु-सेना का नाश करें। बड़े जाल के अन्दर शत्रु-सैनिकों को पकड़कर नाश करें ॥४)

[103] सातवलेकरभाष्यम्-(यह अन्तरिक्ष बड़ा जाल है, इसके दण्ड ये बड़ी दिशाएँ हैं। इस जाल से शत्रु को पकड़कर शूरवीर उनका नाश करें॥५)

[104] सातवलेकरभाष्यम्-(सेना के साथ हमला करनेवाले इन्द्र के पास बड़ा जाल है। उससे शत्रु-शैन्य बाँधा जाता है और कोई बच नहीं सकता॥६)

[105] सातवलेकरभाष्यम्-(अनेक पराक्रम करनेवाले पूजनीय इन्द्र देव का बड़ा जाल है उस जाल में शत्रु-सैनिक बाँधे जाते हैं और उनके हजारों और लाखों मारे जाते हैं ॥७)

[106] सातवलेकरभाष्यम्-(बड़े इन्द्र का यह विस्तृत लोकहि बड़ा जाल है। इस इन्द्रजाल में सब शत्रु अन्धकार से बाँधे जाते हैं॥८)

श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमून् अभि दधामि सर्वान् ॥९॥[107]

मृत्यवेऽमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।

मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा ॥१०॥ [108]

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।

परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥११॥[109]

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा ।

रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥१२॥[110]

विश्वे देवाः उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा ।

मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥१३॥[111]

वनस्पतीन् वानस्पत्यान् ओषधीरुत वीरुधः ।

द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥१४॥[112]

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन्।

---

107 सातवलेकरभाष्यम्-(थकावट, निर्धनता, कष्ट, परिश्रम, आलस्य, अज्ञान इत्यादि से शत्रुओं को घेरते हैं ॥९)

108 सातवलेकरभाष्यम्-(उन शत्रुओं को मृत्यु के पास भेजता हूँ। मृत्यु पाशों से ये बाँधे गये हैं। मृत्यु के ये मारक दूत हैं उनके पास शत्रुओं को ले जाता हूँ॥१०)

109 सातवलेकरभाष्यम्-(मृत्यु के दूत हमारे शत्रुओं को पकड़ें, यमदूत उनकी समाप्ति करें। इस प्रकार हजारों शत्रु मारें जाएँ ॥११)

110 सातवलेकरभाष्यम्-(साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य से इस जाल के चारों खण्डों को पकड़कर वेग से दौड़ते हैं ॥ १२)

111 सातवलेकरभाष्यम्-(विश्वेदेव ऊपर से हमला चढ़ाते हैं और आंगिरसों ने शत्रु सेना के मध्यभाग में हमला चढ़ाया है ॥१३)

112 सातवलेकरभाष्यम्-(वनस्पति, वनस्पति से बने पहार्थ, औषधि, लता, द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब मेरे सहायक हों और इनकी सहायता से मैं शत्रु का नाश करूँ ॥१४)

दृष्टान् अदृष्टान् इष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥१५॥[113]

इम उप्ता मृत्युपाशा यान् आक्रम्य न मुच्यसे ।

अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥१६॥[114]

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।

भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥१७॥[115]

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् ।

इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥१८॥[116]

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।

बृहस्पतिप्रनुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥१९॥[117]

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।

अथैषां बहु बिभ्यतामिषवः घ्नन्तु मर्मणि ॥२०॥[118]

सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः ।

---

[113] सातवलेकरभाष्यम्-(गन्धर्व, अप्सराएँ, सर्प, देव, पुण्यजन, पितर, परिचित और अपरिचित मुझे सहायता करें, जिनको सहायता से मैं शत्रु का नाश करूँ॥१५)

[114] सातवलेकरभाष्यम्-(ये मृत्युपाश लगाये हैं, इनमें से कोई नहीं छूटेगा, इस शत्रु-सेना का यह केन्द्र सब प्रकार से मैं नाशकरूँगा॥१६)

[115] सातवलेकरभाष्यम्-(यह यज्ञ अग्नि से प्रदीप्त हुआ है। इस यज्ञ के द्वारा शत्रु-सेना नाश होवे ॥१७)

[116] सातवलेकरभाष्यम्-(मृत्यु से कष्ट, क्षुधा, बन्धन, वध और भय शत्रु को प्राप्त होवे और इस प्रकार भयभीत हुए शत्रु का नाश होवे ॥१८)

[117] सातवलेकरभाष्यम्-(शत्रु पराजित हों, वे भाग जाएँ। हमारे ज्ञानी वीर द्वारा प्रेरित हुए शत्रु किसी प्रकार भी न बचें ॥१९)

[118] सातवलेकरभाष्यम्-(शत्रु के शस्त्र गिर जाएँ, वे हमारे शस्त्रास्त्रों को न सह सकें, वे डर जाएँ और इनके मर्म वेधे जाएँ ॥२०)

मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥२१॥[119]

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोदाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः ।

द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किम्करा वाक्परिरथ्यम् ॥२२॥[120]

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् ।

इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥२३॥[121]

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।

इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।

नीललोहितेनामून् अभ्यवतनोमि ॥२४॥[122] (अ.शौ.सं. ८/८/१-२४)

- **कृत्यारूपाभिचारकर्मणां प्रयोगः –**

किञ्चिन्मनसि निधाय यदा मन्त्रेण कस्यचिदन्यस्य वा प्रयोगेण इन्द्रजालस्य प्रयोगः क्रियते तदा कृत्यारूपप्रयोगरित्युच्यते । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां स्वशत्रून् विनाशयितुं कृत्याप्रयोगस्य वर्णनं दृश्यते –शौनकसंहितायाः ७/७७ तमं सूक्तं तथा च १६ सूक्तस्य ७,८ मन्त्रे शत्रुसेनायाः उपरि अपि अस्य प्रयोगस्य वर्णनं दृष्टिगोचरं भवति । ८/८ तथा ११/९। शत्रूणां कर्मकाण्डानि सफलानि न भवेयुः तदर्थं कृत्याभिचारस्य वर्णनं प्राप्यते ७/७० अस्मिन् ।

---

119 सातवलेकरभाष्यम्-(सब लोग इन शत्रुओं की निन्दा करें, हमारे शत्रु को किसी ज्ञानी की सहायता न प्राप्त हो, वे किसी स्थान पर न ठहर सकें। वे आपस में एक दूसरे को टकराते हुए मर जाएँ ॥ २१)

120 सातवलेकरभाष्यम्-(देव रथ की घोड़ियाँ चारों दिशाएँ हैं, उस रथ के विविध भाग पुरोडाश, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवीं, ये हैं। छह ऋतु घोड़ियों के लगाम हैं, बीच के स्थान-संरक्षक नौकर हैं और वाणी ही मध्य-स्थान है ॥२२)

121 सातवलेकरभाष्यम्-(संवत्सर, परिवत्सर, विराट्, अग्नि ये क्रमशः रथ, बैठने का स्थान, दण्ड और रथमुख हैं, इन्द्र इस रथ में बाई ओर बैठता है और चन्द्रमा सारथ्य करता है ॥२३)

122 सातवलेकरभाष्यम्-(इस प्रकार जय प्राप्त कर, विजय सम्पादन कर। आत्मसमर्पण से ही जय मिलता है। ये हमारे वीर जय प्राप्त करें। शत्रु का पराजय हो। अपने लोगों को शुभ आशीर्वाद । शत्रु को शाप । सब शत्रुओं की गिरावट हो ॥२४)

कृत्याभिचारस्य प्रयोगः स्वमित्रस्योपरि कृत्वा तन्नाशं कर्तुं इति अस्यापि वर्णनम् शौनकसंहितायां ४/१८/३ प्राप्यते । स्त्रियः स्वपतिं वशीकर्तुमस्य प्रयोगं कुर्वन्ति, अस्यापि वर्णनं ६/१३/८ मध्ये वर्तते । चोरान् गृहीतुम् अपि अस्य प्रयोगः क्रियते ७/९५ तथा इन्द्रजालविषयकस्य बोधार्थं विभिन्नाः मन्त्राः सन्ति - ८/८/८,९ २०/८७/५ ८/१०/२२ इत्यादयः ।

- **कृत्यारूप-अभिचारकर्मणो निवारणम् –**

येन प्रकारेण शत्रूणां नाशार्थं कृत्यारूपप्रयोगो विधत्तोऽस्ति । तथैव तस्य निवारणार्थमपि वर्णनं विधत्तमस्ति । अथर्ववेदीयशौनकशाखायां प्राप्यते यत् मणीनां धारणेन कृत्यायाः प्रभावो न भवति ।[123]

एवमेव किञ्चित् अशुभं निवारणार्थम् अस्य प्रयोगः क्रियते । ५/१४, १०/१ तथा इतोऽपि बहवः दुःखविषयाः वर्तन्ते । तेषां निवारणार्थं कृत्यापरिहारस्य प्रयोगः क्रियते। यथा – शापात् विमोचयितुम्,[124] पाशात् विमोचयितुम्[125] पापात् रक्षणार्थम्[126] तथा च स्वरक्षणार्थं कृत्यानिवारणरूपाभिचारकर्मणां प्रयोगः क्रियते ।

अथर्ववेदीयशौनकशाखायां कृत्यानिवारणार्थम् अनेके विषयाः, क्रियाश्च प्राप्यन्ते । आङ्गिरसविद्यायाः ज्ञाता कृत्यानिवारणेन सहैव तद्विपरीतं ये कुर्वन्ति तान् अपि नाशयति ।[127] अथर्ववेदीयशौनकसंहिताया एकस्मिन् मन्त्रे अभिचारं दूरीकर्तुं प्रयोगचतुष्ट्यम् उक्तमस्ति ।[128]

---

123 अ.शौ.सं.२/११

124 अ.शौ.सं.६/३७

125 अ.शौ.सं.२/७/७, ५९

126 अ.शौ.सं.७/६५

127 अ.शौ.सं.१०/१/६

128 अ.शौ.सं.१०/१/१२

तत्प्रयोगचतुष्ट्यमस्ति – १) अपामार्गादि-औषधद्वारा २.) ज्ञानबलेन ३.) मन्त्रोच्चारणेन ४.) तपस्विभिः। कृत्यायाः निवारणं द्विधा भवति[129] १– उन्मोचनद्वारा २– प्रमोचनद्वारा।

उन्मोचने व्यक्तिः स्वयमेव विमुक्तो भवति तथा प्रमोचने अन्यान् विमोचयति। उन्मोचनेन प्रमोचनेन च सः कृत्यायाः प्रभावाद्बहिरागच्छति। कृत्यानिवारणार्थम् अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामुक्तमस्ति – यस्य उपरि इन्द्रजालादिकं कृतं स्यात् तस्य शिरसः उपरि पाषाणं भ्रामयित्वा अग्नौ क्षेपणीयम्। अग्नौ पाषाणस्य विभागो भवति चेत् कृत्याप्रभावः प्रनष्टो भवति।[130] कृत्यायाः प्रभावस्य निवारणार्थं लौहधातोः प्रयोगस्य वर्णनमथर्ववेदीयशौनकसंहितायां प्राप्यते। अञ्जनप्रयोगेणापि कृत्याया निवारणं भवति।[131] 'अपामार्ग-नागरमोथा' आख्याभ्याम् औषधाभ्यां नानाविधप्रकारकाः सर्वे कृत्याः दुरीक्रियन्ते तथा च आभ्यां औषधाभ्यां कृत्याकर्तुर्विनाशोऽपि विधातुं शक्यते।[132]

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामुक्तमस्ति सत्यमिति महान् रक्षको भवति। सत्यनिष्ठस्योपरि कृत्यायाः कोऽपि प्रभावो न भवति।[133] कृत्यायाः प्रभावो निष्पापव्यक्तेरुपरि न भवति।[134]

- **अभिशापः –**

यदा कश्चन मनुष्यो अनैतिकं कर्म करोति तदा सः ज्ञात्वाज्ञात्वा वा अभिशापरूपदुःखान् अनुभवति। यं प्रति अनैतिककर्माण्याचर्य्यन्ते सः कर्तारं प्रति क्रोधेन यत् वदति तदेव अभिशापरित्युच्यते। अभिशापः सर्वदा कष्टकारकरेव भवति।

---

129 अ.शौ.सं.५/३०/२

130 अ.शौ.सं.४/१८/३

131 अ.शौ.सं.४/९/५

132 अ.शौ.सं.५/१४/१

133 अ.शौ.सं.४/१८/१

134 अ.शौ.सं.५/१४/९

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामपि शापस्योल्लेखः प्राप्यते – अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां ४/१७/३ इत्यस्मिन् पापिनी स्त्री उक्ताऽस्ति सात्मानं स्वयमेव प्रणश्यति इति । एवं प्रकारेणैव ६/३७/२,३ इत्यत्र च वर्णितमस्ति यत् यो निर्दोषं शापयति तस्य नाशो भवति । द्वितीयमन्त्रे चन्द्रस्य कृते प्रार्थना विधत्ता अस्ति यत् सः यथा तडितद्वारा वृक्षं नाशयति तथैव यः शापं प्रयुनक्ति तमपि भवान् तथैव नाशयतु इति । तथैव ८/३/१४ इत्यत्र कामना कृता अस्ति यः शापं प्रयुनक्ति सः तं प्रत्येवानुगच्छेत् ।

- **अभिशापनिवारणम् –**

शापस्य एकावधिः सुनिश्चिता भवति । तदवधेरनुगुणं शापस्य भोगानन्तरं सः शापः स्वयमेव पर्यावृत्तो भवति । यथा – अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः २/७/१,२ मन्त्रयोः दूर्वायाः कृते दिव्यौषधमिति विशेषणं प्रयुक्तमस्ति । दूर्वा शापात् पापाच्च रक्षयति । अनेन शत्रूणामपि शापाः दूरीक्रियन्ते । मन्त्रशक्तिद्वाराऽपि मुक्तेर्वर्णनं प्राप्यते ।[135] एवं प्रकारेण ज्ञानेन शापात् विमुक्तिरुक्ताऽस्ति ।[136]

- **यातुधानः –**

यातुधानशब्दः इन्द्रजालार्थं प्रयुज्यते । अस्यैव द्वितीयार्थो वर्तते रोगोत्पादककृमिरिति ।[137] अस्य प्रयोगः दुष्भावनया प्रेरितो भूत्वा विदधाति । अनेन अन्यस्य हानिर्भवति । गर्भनाशकस्य यातुधानस्य प्रयोगोऽथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ८/६ सूक्ते प्राप्यते, यच्च कृमीणां सन्दर्भे वर्तते ।

यथाहि –

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ ।

---

135 अ.शौ.सं.८/१/३

136 अ.शौ.सं.२/१०/१

137 द्विवेदी, कपिलदेव,अथर्ववेद का सांस्कृतिक् अध्ययन,विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, भदोहि:२०१२. प.३८४

दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥१[138]

पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम् ।

आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥२[139]

मा सं वृतो मोप सृप ऊरू माव सृपोऽन्तरा ।

कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ॥३[140]

दुर्णामा च सुनामा चोभा सम्वृतमिछतः ।

अरायान् अप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिछताम् ॥४[141]

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।

अरायान् अस्या मुष्काभ्यां भंससोऽप हन्मसि ॥५[142]

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।

अरायां छ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत्॥६[143]

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।

बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥७[144]

---

138 सातवलेकरभाष्यम्-(बच्चा उत्पन्न होते ही स्तन में तथा अन्यत्र रोग उत्पन्न करनेवाले कृमि न पहुँचें ॥१)

139 सातवलेकरभाष्यम्-(मांस में उत्पन्न होनेवाले, हिंसक, वीर्य दोष उत्पन्न करनेवाले, बाल सफेद करनेवाले, कुरूपता बढ़ानेवाले, गर्दन में रोग बनानेवाले, आँखों में सुस्ती लानेवाले रोगों को मैं दूर करता हूँ ॥२)

140 सातवलेकरभाष्यम्-(रोग जन्तु पास न रहे, प्रसवस्थान में जङ्घाओं के मध्य में न जावे, इसको दूर करने के लिये यह औषध बनाता हूँ, यह बज नामक औषध इस दुष्ट क्रिमि को दूर करता है ॥३)

141 सातवलेकरभाष्यम्-(दो प्रकार के क्रिमि होते हैं, एक दुष्ट और दुसरा हितकारी। दोनों पास आते हैं, उनमें दुष्ट को हटाते हैं और उत्तम को स्त्री जाती के पास रखते हैं ॥४)

142 सातवलेकरभाष्यम्-(काला, बालोंवाला, प्राणघातक, मुखवाला, शरीर के स्तम्भ में रहनेवाला, घातकी, क्षीणता बढ़ानेवाला कृमि है, उसको स्त्री के अवयवों से हटा देते हैं ।। ५)

143 कई क्रिमी सूंघने से प्राणघात करते हैं, कई स्पर्श से नाश करते हैं, कई मांस को क्षीण करते हैं, कई अन्य रीति से घात करते हैं, कई कष्ट देते हैं, उन सब रोग-बीजों को पीली बज औषधि हटा देती है ।।६)

144 सातवलेकरभाष्यम्-(भाई अथवा पिता के रूप से स्वप्न में जो आते हैं, वे निर्बल हैं, परन्तु घातक होते हैं, उनको इस बज औषधि से हटाया जा सकता है ॥७॥)

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्न् अनीनशत् ॥८[145]
यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥९[146]
ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः ।
तान् ओषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ॥१०[147]
ये कुकुन्धाः कुकिरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तान् इतो नाशयामसि ॥११[148]
ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि ॥१२[149]
य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति ।

---

[145] सातवलेकरभाष्यम्-(सोने की अवस्था में अथवा जागने की अवस्था में जो रोग-बीज पास आते हैं, उनको सूर्य अन्धकार का नाश करने के समान नाश करता है ॥८)

[146] सातवलेकरभाष्यम्-(जो रोग-बीज स्त्री को मृतवत्सा अथवा गर्भपात करनेवाली बनाते हैं, उन रोग-बीजों का नाश कर और उस स्त्री का गर्भ-स्थान नीरोग बना ॥९॥)

[147] सातवलेकरभाष्यम्-(गधे के समान बुरा शब्द करनेवाले मच्छर आदि जो सायंकाल के समय घर के पास नाचते और गाते रहते हैं, जिनके मुख में सूई के समान चुभनेवाला शस्त्र रहता है, जिनका पेट बड़ा और टेढ़ा-मेढ़ा होता है और जिनके शब्द से दुःख होता है, उन रोगक्रिमी मच्छर आदिकों को उग्र गन्धवाली औषधि से चारों ओर फैलाकर लाशकरो ॥१०)

[148] सातवलेकरभाष्यम्-(बुरा शब्द करनेवाले, सब मिलकर बड़ा आवाज करनेवाले, मुख में काटने और दंश करने के साधन रखनेवाले, वन में नाचनेवाले रोगोत्पादक मच्छर आदि क्रिमियों को यहाँ से हटा दो ॥११)

[149] सातवलेकरभाष्यम्-(धुलोक से प्रकाशनेवाले सूर्य के प्रकाश को जो सह नहीं सकते, दुर्गन्धियुक्त चर्म आदि पदार्थों में जो रहते हैं, उन रक्त पीनेवाले मच्छरों का हम नाश करते हैं ॥१२)

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥१३[150]

ये पूर्वे बध्वो यन्ति हस्ते शृङ्गानि बिभ्रतः ।

आपाकेस्थाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तान् इतो नाशयामसि ॥१४[151]

येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा ।

खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः ।

तान् अस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥१५[152]

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः ।

अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ॥१६[153]

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् । उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ।

पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥१७[154]

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।

पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥१८[155]

ये अम्नो जतान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।

---

[150] सातवलेकरभाष्यम्-(जो अपने आपको कन्धे के सहारे ऊपर ही ऊपर धारण करता है, वह रोगकृमि स्त्री के गर्भाशय का रोग बनानेवाला है, उसका नाश कर ॥१३)

[151] सातवलेकरभाष्यम्-(जो अपने पास सींग रखते हैं, पाकगृह में रहते हैं, जो चमकते हैं और स्त्रियों के पास जाकर रोग उत्पन्न करते हैं, उन कृमियों को यहाँ से नाश करो ॥१४)

[152] सातवलेकरभाष्यम्-(इनके पाव पीछे की ओर और एडि आगे की ओर होती है मुख भी आगे की ओर होता है, जो गोबर आदि में उत्पन्न होते हैं ये बड़ा कष्ट देनेवाले रोग-बीज यहाँ से हटा दो ॥१५॥)

[153] सातवलेकरभाष्यम्-(जिनकी आँखें खराब होती हैं, जो विशेष क्षीण हैं, वे स्त्री से सम्बन्ध न रखें। जो पुरुष अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य की स्त्री से कुकर्म करता है, उसको औषध से गिरा दो ॥१६)

[154] सातवलेकरभाष्यम्-(जैसी गौ मिट्टी का बर्तन तोड़ती है, उसी प्रकार एडि और पाँव से झूठे, मुनिवेषधारी, हिंसक दम्भी आदि सब प्रकार के दुष्ट मनुष्य को वेध डाल ॥१७)

[155] सातवलेकरभाष्यम्-(जो गर्भ का नाश करेगा अथवा उत्पन्न हुए बालक को खावेगा, उसके हृदय पर प्रहार कर ॥१८॥)

स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥१९[156]

परिसृष्टं धरयतु यद्धितं माव पादि तत् ।

गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥२०[157]

पवीनसात्तङ्गल्वाच्छायकादुत नग्नकात्।

प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥२१[158]

द्व्यास्याच्चतुरक्षात्पञ्चपदादनङ्गुरेः ।

वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥२२

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।

गर्भान् खादन्ति केशवास्तान् इतो नाशयामसि ॥२३[159]

ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।

बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम् ॥२४[160]

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।

आण्डादो गर्भान् मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥२५[161]

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद्रोदमघमावयम् ।

---

156 सातवलेकरभाष्यम्-(जो जन्मे बालकों को मारता है, जो सूति का गृह में रहते हैं, जो स्त्रियों के पास रहते हैं उन रोगकृमियों को यह पीली औषधि दूर करे ।। १९)

157 सातवलेकरभाष्यम्-(गर्भाशय में गर्भ की उत्तम धारणा हो, गर्भ न गिरे, दोनों उग्र औषधियाँ गर्भ की रक्षा करें ॥२०)

158 सातवलेकरभाष्यम्-(प्रजा की सुरक्षितता के लिये वज्र नासिकावाले, बड़े गालवाले, काले नंगे भूखे रोगकृमि से पीला औषधि के द्वारा तेरी रक्षा करते हैं ॥२१)

159 सातवलेकरभाष्यम्-(जो कच्चा मांस खाते हैं, गर्भों को खाते हैं, उनको यहाँ से नाश कर ॥२३

160 सातवलेकरभाष्यम्-(जो कृमि सूर्य से छिपते हैं, सूर्य-किरणों के सामने ठहर नहीं सकते, उनका नाश जब औषधि से…)

161 सातवलेकरभाष्यम्-(उत्पन्न होनेवाले बच्चे की रक्षा कर। स्त्री-पुरुष को दुःख न दो। अण्ड खानेवाले गर्भ का नाश न करें । दुष्टों को वहाँ से दूर कर ।। २५)

वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥२६[162]

एकोनविंशकाण्डस्य ३६ तमं सूक्तं यातुधानानां रोगाणां शतावरमणेः वर्णनं करोति। अनेन उभयप्रकारकस्य यातुधानस्य नाशः भवति। यातुधानस्य एकः अर्थः पापेनाऽपि गृह्यते। अतः अथर्ववेदीयशौनकशाखायाम् उक्तमस्ति यत् यदि अहं पापी स्याम्, तर्हि मम मृत्युः भवेदिति ।[163] एवं पापीनां कृते ८/३/१५,१६ इत्यत्रापि प्राप्यते। अत्र गोः कृते विषं ये प्रयच्छन्ति, अश्वादीनां मांसभक्षणम्, मनुष्यस्य मांसं ये भुज्यन्ते तेषां मारणं भवेदिति उक्तमस्ति ।[164] अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां इन्द्रस्य कृते तथा अग्नेः कृते प्रार्थना कृता अस्ति यत् भवन्तः यातुधानान् नाशयन्तु इति ।[165]

- **पापः –**

समाजेऽस्वीकृतानाम् आध्यात्मिकावमूल्यनहेतूनां सामाजिकार्थिकोन्नतिप्रतिबन्धकानां कार्याणाम् अनुपालनेन पापभागित्वमुपैति कश्चित्। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां पापकर्म तथा च तेषामवबोधनायोपायाः उक्ताः सन्ति । षष्ठे तथा च सप्तमे काण्डे मातृपितृगुर्वग्रजबन्धुबान्धवान् प्रति आचर्यमाणानां पापानां वर्णनं विधत्तमस्ति। तानेव पापान् अवबोधयितुं कामना कृता अस्ति। निम्नाङ्कितेषु सन्दर्भेषु वर्णनमिदं प्राप्यते – ६/४५, ६/५१, ६/९६, ६/११४, ६/११५, ६/११६, ६/१२० एवं ७/३४, ७/४२, ७/८३, ७/१०२,

---

162 सातवलेकरभाष्यम्-(वन्ध्यापन, बच्चे मरना, रोने को ओर प्रवृत्ती, पाप प्रवृत्ति, ये सब दोष हट जाएँ। वृक्ष से फूल गिरने के समान ये सब दोष मनुष्य से दूर हों ॥२६)

163 अ.शौ.सं.८/४/१५

164 यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥१५
विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥१६ आदि

165 अ.शौ.सं.१/२८/२, ८/४/२४, १०/५/४९, ८/३/६

७/१०६, ७/११२। इतोऽपि शौनकसंहितायां जलेनाऽपि पापविमोकस्य कामना कृता अस्ति।[166] प्रायश्चित्तेनाऽपि पापात् विमोचार्थं विधानं प्राप्यते एषु सन्दर्भेषु २/१०, ६/१९, ६/२६, ७/६३, ११/६

- **शकुनविश्वासः**

इयमेका अवधारणा वर्तते या समाजे प्रसृता वर्तते। समाजे प्रवृत्ताः शकुनविश्वासाः शुभाशुभभेदेन द्विविधाः सन्ति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामपि अनेके शकुनविश्वासा वर्णिताः सन्ति। अशुभविश्वासानाधाय सङ्केताः शौनकसंहितायाः प्रथमकाण्डीयाष्टादशतमस्य सूक्तस्य प्रथममन्त्रतश्चतुर्थमन्त्रपर्यन्तं प्राप्यन्ते। यथाहि –

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निररातिं सुवामसि।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि॥१[167]
निररणिं सविता साविषक्पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा।
निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय॥२[168]
यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा।
सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु॥३[169]
रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।

---

166 अ.शौ.सं.१६/१

167 सातवलेकरभाष्यम्-(सिर पर तथा शरीर पर जो कुलक्षण होंगे उनको दूर कहना चाहिये तथा अन्तःकरण में कंजूसी आदि जो दुर्गुण हैं उनको भी दूर करना चाहिये और जो सुलक्षण हैं उनको अपने तथा अपने सन्तानों के पास स्थित करना अथवा बढ़ाना चाहिये तथा कंजूसी आदि मन के बुरे भावों को हटाना चाहिये॥१॥)

168 सातवलेकरभाष्यम्-(सविता, वरुण, मित्र, अर्यमा, अनुमति आदि सब देव और देवता हाथों और पावों की पीड़ा को दू करें, इस विषय में ये हमें उपदेश दें, क्योंकि देवों ने स्त्री और पुरुष को उत्तम भाग्य के लिये ही बनाया है॥२)

169 सातवलेकरभाष्यम्-(तुम्हारे आत्मा अथवा मन में, शरीर में, वेशों में तथा दृष्टि में जो कुछ कुलक्षण हों, जो कुछ भी दुर्गुण हों उनको हम वचन से हटाते हैं। परमेश्वर तुम्हें उत्तम लक्षणों से युक्त बनावे॥३)

विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन् नाशयामसि ॥४

शौनकसंहितायां निर्दिष्टानि विभिन्नानि चिह्नानि यानि तु विकृतावस्थायाः असौभाग्यसूचकानि वा सन्ति तानीमानि -

(क) मस्तिष्काकाराः

(ख) केशाः

(ग) नेत्रम्

(घ) मानसिकम्

(ङ) शारीरिकविकृतिः

(च) भगवत्पादाः

(छ) वृषभवत् दन्ताः

(ज) विकृतभाषणम्

एवं प्रकारेण सौभाग्यप्रदशुभशकुनस्योल्लेखोऽपि अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां दृश्यते – १९/८

अष्टसु प्रहरेषु सुभने भवेत् न असौभाग्यम् एवञ्च याचना प्राप्यते । यथाहि –

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥१[170]
अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे ।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥२[171]

---

[170]सातवलेकरभाष्यम्-(यानि नक्षत्राणि-जो नक्षत्र दिवि अन्तरिक्षे-युलोक में, अन्तरिक्ष में अप्सु भूमौ जलों में भूमी पर यानि नगेषु दिक्ष जो पर्वतों पर तथा दिशाओं में है। चन्द्रमा यानि प्रकल्पयन् एति-चन्द्रमा जिनका भोग करता हुआ जाता है। सर्वाणि एतानि मम शिवानि सन्तु-सब ये नक्षत्र मेरे लिये कल्याणकारी हों ॥१)

[171]सातवलेकरभाष्यम्-(अष्टाविंशानि-अट्ठाईस नक्षत्र शिवानिशग्मानि-कल्याण और सुखदायी हों। ये सह योगं भजन्तु मेरे साथ योग प्राप्त करे । योगं प्रपद्ये-योग प्राप्त हो, क्षेमं प्रपद्य-क्षेम प्राप्त हो । क्षेमं च प्रपद्ये योगं च-क्षेम और योग प्राप्त हो । अहोरात्राभ्यां नमः अस्तु-दिन और रात्री के लिये मैं नमन करता हूँ ॥२)

स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु ।

सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन् ॥३[172]

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् ।

सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परा तान्त्सवितः सुव ॥४[173]

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम् ।

शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम् ॥५[174]

इमा या ब्रह्मणस्पते विषुचीर्वात ईरते ।

सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥६[175]

स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरत्राभ्यामस्तु ॥७[176]

प्राकृतिकापदा अपि असौभाग्यकारणाद्भवन्ति । अतः ताः न भवेयुः इति कृत्वा १९/९ इत्यत्र प्रार्थना कृता वर्तते । यथाहि –

172सातवलेकरभाष्यम्-(में सु-अस्तितम् मेरे लिये अस्तकाल कल्याण करनेवाला हो, सुप्रात:-सुखदायी प्रात:काल हो सुसायम् सार्यकाल सुखदायी हो । सदिवम्-दिन सुखदायी हो, सुमृगम् पशु सुखकारक हो, सुशकुन मे अस्तु-पक्षी सुखदायी हों। हे अग्ने ! सुहवं स्वस्ति-प्रार्थना सुखदायक हो। अमर्त्य गत्वा अमरत्व को प्राप्त होकर तू पुनः
अभिनन्दन्- पुनः सब को प्रसन्न करता हुआ आ अयम्-आओ ॥३

173 सातवलेकरभाष्यम्-(हरिण के समान पाँव, बैल के समान दाँत, गाय के समान चलने की आदत, कठोर बुरा आवाज होना तथा सिर पर के अन्य कुलक्षण यह सब हमसे दूर हों ॥४)

174 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-अपपापं परिक्षवम्-पाप और छींक दूर हो । पुण्यं क्षवं मक्षीमहि-पुण्यकारक अन्न हम भक्षण करेंगे। हे पाप! शिवा पुण्यगः च कल्याण करनेवाली और पुण्य मार्ग से जानेवाली ते नासिका अभि मेहताम् तेरी नाक घर मूत्र करें । तेरा अपमान करें ॥५)

175सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ हे ब्रह्मणस्पते-ज्ञानघते ! इमाः याः विषूचीः-इन नाना दिशाओं में वातः ईरते-वायु चलता है, हे इन्द्र ! ताः सधीचीः कृत्वा-उनको योग्य मार्ग से चलनेवाले करके मह्यं शिवतमाः कृधि मेरे लिये सुखदायी कर ॥६॥

176 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-नः स्वस्ति अस्तु-हमारा कल्याण हो, नः अभयं अस्तु-हमें निर्भयता प्राप्त हो । अहोरात्राभ्यां नमः अस्तु-दिन-रात्री के लिये नमस्कार हो ॥७)

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम् ।

शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥१[177]

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।

शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥२[178]

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता ।

ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥३[179]

इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् ।

येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥४[180]

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियानि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।

यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥५[181]

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः ।

शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा ॥६[182]

---

177 सातवलेकरभाष्यम्-(द्यौः शान्ता-घुलोक शान्ति देवे। पृथिवी शान्ताः पृथिवी शान्ति देवे। इदं उरु अन्तरिक्ष शान्तम्-यह बड़ा अन्तरिक्ष शान्तिकारक हो। उदन्वती: आपः शान्ताः-उछलनेवाले जल शान्ति देवे। ओषधीः नः शान्ता सन्तु-औषधियाँ हमारे लिये शान्ति देनेवाली हों ॥१॥

178 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-पूर्वरूपाणि शान्तानि-पूर्व समय के रूप शान्ति देवें। नः कृत-अकृतं शान्तं अस्तु हमने किये या न किये कार्य हमारे लिये शान्ति देनेवाले हों। भूतं भव्यं च शान्तम्-भूत और भविष्य शान्तिकारक हों सर्व एव नः शं अस्तु-सब हमारे लिये शान्ति देनेवाली हो ॥२

179सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-इयं या परमेष्ठिनी यह जो परम स्थान में स्थित ब्रह्मसंशिता वाक् देवी-ज्ञान से तेजस्वी बनी वाचा देवी है यया घोरं एवं ससृजे-जिससे भयंकर कार्य होते हैं तया एव नः शान्तिः अस्तु-उससे हमें शान्ति प्राप्त हो॥

180 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-इदं यत् परमेष्ठिनम्-यह जो परम स्थान में स्थित वां ब्रह्मसंशितं मनः-आप दोनों का ज्ञान से तेजस्वी बना मन है, जिससे घोर परिणाम होता है, वह हमारे लिये शान्ति देवे॥४॥)

181 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-इमानि यानि पञ्च इंद्रियाणि-जो ये हमारे पाँच इन्द्रिय हैं, मनःषष्ठानि-मन जिनमें छठा है ब्रह्मणा संशितानि मे हदि ज्ञान से तेजस्वी बने मेरे हृदय में रहते हैं। जिनसे भयंकर कर्म होते हैं, उनसे हमें शान्ति प्राप्त हो॥५॥

182 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-मित्र हमारे लिये सुखदायी हो, वरुण हमें सुखदायक हो, विष्णु और प्रजापति हमें सुखदायी हों, इन्द्र, बृहस्पति और अर्यमा हमें शान्ति देनेवाला हो॥६

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वां छमन्तकः ।

उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः ॥७[183]

शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत्।

शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्यतीः ॥८[184]

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः श्मु सन्तु कृत्याः।

शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोप्सर्गाः शमु नो भवन्तु ।।९[185]

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।

शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥१०[186]

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः ।

शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥११[187]

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोऽग्नयः ।

---

183 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-मित्र हमारे लिये शान्ति दे। वरुण हमें शान्ति दे, विवस्वान् अन्तकः शम्-विवस्वान् हमें शान्ति दें और अन्त करनेवाला देव हमें शान्ति दें। पार्थिवा अन्तरिक्षाः उत्पाताः पृथिवी और अन्तरिक्ष में होनेवाले उत्पात और दिविचराः ग्रहाः नः शम्-युलोक में संचार करनेवाले ग्रह हमें शान्ति देवे॥७

184 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-वेष्यमाना भूमिः नः शम्-भूचाल होनेवाली भूमि हमें शान्ति दे, उल्का शम्-उल्का शान्ति देवें यत् निहतम्-जो पृथिवी पर गिरा है वह भी शान्तिकारक हो। लोहित-क्षीराः गावः शम्-रक्त के समान दूध देनेवाली गौवें भी हमें शान्ति देखें। अवतीयंतीः भूमिः शम्-फट जानेवाली भूमि भी शान्ति देनेवाली हो ॥८॥

185सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-उल्काभिहतं नक्षत्र नः शं अस्तु-उल्फा से फेंका गया नक्षत्र हमें शान्ति देवे। अभिचाराः नः शम्-शत्रु का आक्रमण भी हमें शान्ति देनेवाला हो, कृत्याः शं उ सन्तु घातक क्रियाएँ भी शान्ति देनेवाली हों। निखाताः नः शम्-गढ़े हमारे लिये शान्ति दें। वल्गाः शम्-हिंसा के कार्य हमें शान्ति दें। देशोपसर्गाः उल्का नः उशं भवन्तु-देश में उपसर्ग पहुँचानेवाले उल्का आदि हमें शान्ति दें॥९॥

186सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-चांद्रमसाः ग्रहाः नः शम्-चन्द्रमा सम्बन्धी ग्रह हमें शान्ति देवें। राहुणा आदित्यः शम् राहु के साथ सूर्य हमें शान्ति देवे! धूमकेतुः मृत्युः नः शम्-धूमकेतु मृत्यु हमें शान्ति देनेवाला हो, तिग्मतेजसः रुद्राः शम् तीक्ष्ण तेजवाले रुद्र हमें शान्ति देवें ॥१०

187 सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ–रुद्राः शम्-रुद्र हमें शान्ति दें। बसवः शम्-वसु हमें शान्ति दें। आदित्याः शम्-आदित्य हमें शान्ति दें। अग्नयः शम्-अग्नि हमें शान्ति दें। देवाः महर्षयः नः शम् देव और महर्षि हमें शान्ति दें। देवाः शम्-देव हमें शान्ति दें। बृहस्पतिः शम्-बृहस्पति हमें शान्ति दे॥११

तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु ।

विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु ॥१२[188]

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।

सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥१३[189]

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः

शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः ।

यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥१४[190]

अपशकुनस्य चिह्नानि यानि भवन्ति तान्यपि शौनकसंहितायामुपवर्णितानि प्राप्यन्ते। यथाहि – उल्कापिण्डसम्बन्धितम् अपशकुनम्,[191] उल्लूकं तथा कपोतं स्वीकृत्य विश्वासः,[192]

---

[188]सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-ब्रह्मा, प्रजापति, धाता, लोकाः सब लोक, वेदाः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये या वेद, सप्त ऋषि, अग्नि तैः मे स्वस्त्ययनं कृतम्-इन सब ने मेरा स्वस्त्ययन, अर्थात् सुखदायक मार्ग किया है। इस देव मुझे सुख देवें। सर्वे देवाः मे शर्म यच्छन्तु-सब देव मुझे सुख देवें ॥१२

[189] सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-यानि कानि चित् शान्तानि जो कुछ शान्तिदायक हैं, ऐसा लोके सप्तऋषयः विदुः-लोक में सप्त ऋषि जानते हैं, सर्वाणि मे शं भवन्तु वे सब मेरे लिये सुख-शान्तिदायक हों, मे शं अस्तु मेरे लिये शान्ति हो, मे अभयं अस्तु मेरे लिये निर्भयता हो ॥१३

[190] सातवलेकरभाष्यम्-(पदार्थ-पृथिवी शान्ति देवे, अन्तरिक्ष शान्ति देवे, घुलोक शान्ति देवे, आपः-जल शान्ति देवे, ओषधयःवनस्पतयः औषधि-वनस्पतियाँ शान्ति देवे, सब देव शान्ति दें, सर्वे देवाः मे शान्ति सब देव मेरे लिये शान्ति देवें। शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः-शान्तियों के साथ शान्ति सच्ची शान्ति हो। ताभिः शान्तिभिः सर्व शान्तिभिः अहं शं अयामः-उन शान्तिपूर्ण सब शान्तियों से हम शान्ति को प्राप्त हों। यत् इह घोरम्-जो यहाँ घोर है, यत् इह क्रूरम्-जो यहाँ कूर है, यत् इह पापम्-जो यहाँ पापमय है, तत् शान्तम्-वह शान्त हो, तत् शिवम्-वह कल्याणकारी हो, नः सर्वे एव शं अस्तु-हमें सब शान्तिदायक हो ॥१४

[191]अ.शौ.सं.५/१७/४

[192] अ.शौ.सं.६/२

यात्रायाः अशुभाशुभविचारः, प्रतिकूलतया वायुप्रवाहस्य विचारः[193], स्वप्नेन सम्बद्धाः शकुनविश्वासाः[194], जुम्भणाधारितः शकुनविश्वासः[195] इत्यादिः ।

- **मणयः**

इदानीं यथा केनचित् 'ताबिज़' इत्यादयो ध्रियन्ते तथावदेव मणिधारणस्य प्रसङ्गाः प्राप्यन्ते । अथर्ववेदीयशौनकशाखायां विभिन्नप्रकारकाणां मणीनां वर्णनं प्राप्यते – जगिडमणिः, प्रसितरमणिः, वरणमणिः, अस्तृतमणिः, दर्भमणिः, औदुम्बरमणिः, शंखमणिः, शतावरमणिः, अभिवर्तमणिः, पर्णमणिः, फालमणिः, वैयाघ्रमणिश्च। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां जगिडमणेरुल्लेखः त्रिषु सूक्तेषु प्राप्यते ।[196] जगिडमणेः निर्माणं कथं भवति इति चेत् अस्य स्पष्टोल्लेखो न प्राप्यते परन्तु आचार्यसायणानुसारं सः एकः वृक्षो वर्तते[197] यच्च वने प्राप्यते ।[198] अस्य गुणाः वच उत वचाः इत्यनेन युज्यन्ते । केचन भैषज्यशास्त्रीणां मतं वर्तते यत् इदं सोमरसेन निर्मिता वटी भवति । जगिडमणिः मालारूपेण ध्रियते ।[199] एतस्य अनेके लाभाः वर्तन्ते । यत्र इमे मणयः स्वास्थ्यादिलाभाय भवन्ति तत्रैव इमे अभिचारप्रयोगान् नाशयन्ति।[200] एवमेवान्यासु मणिषु विषयेऽपि प्राप्यते।

वैदिकप्रहेलिकाः

---

193 अ.शौ.सं.१९/८/६

194 अ.शौ.सं.१९/५७

195 अ.शौ.सं.१९/८/४,५

196अ.शौ.सं. २/४, १९/३४, १९/३५

197 अ.शौ.सं.२/४/१

198 अ.शौ.सं.२/४/५

199अ.शौ.सं. २/४/१

200 अ.शौ.सं.१९/३४/२,४,१० २/४/२

उत्तमकाव्यानां[201] महत्ता तदैव युक्तियुक्ता अनुमन्तव्या भवेद् यदा अवरकाव्यमपि[202] तेषु सम्मिलितं स्यात्। कविः कीयान् अपि काव्यमर्मज्ञः स्यात्, तस्य काव्येषु केचन अंशाः अवश्यम् एव प्राप्यन्ते, यान् अधमकाव्यस्य कोट्यां परिगणनाय शक्यते। मनुष्यस्य मनःस्थितिः सर्वदा एकरसो नैव तिष्ठति।यदा मनःस्थितिः समरूपेण न भवति तदा समानरूपेण काव्यसृजनमपि सम्भवो नास्ति अतः प्रत्येकस्मिन् काव्ये उत्तममध्यमनिम्नकोट्याः काव्यानि दृश्यन्ते। एवमेव प्रकारेण अथर्ववेदेऽपि तिसृणां कोटीनां काव्यानि दृश्यन्ते। प्रहेलिकात्मककाव्यानि अवरश्रेण्यां स्थापनस्य प्रयोजनमेतदेव यदेतानि सहृदयाह्लादकताया इतरं बौद्धिकपक्षं अधिकं स्पर्शयन्ति।

वैदिकप्रहेलिकासु गूढरहस्यानि अभिव्यक्तानि भवन्ति तत्रैव लौकिकप्रहेलिकानां मुख्यमुद्देश्यं मनोरञ्जनं कौतुहलोत्पतिश्च भवति। यथा शब्दचित्रकाव्यस्य कर्णानुरञ्जनं नेत्रानुरञ्जनं वैव मुख्यं प्रयोजनं भवति।

वैदिकप्रहेलिकानां चमत्कारप्रदर्शनस्यापेक्षया सूक्ष्मातिसूक्ष्मवार्त्ताप्रकाशनमेव मुख्यमुद्देश्यं दृश्यते। एते ते सन्दर्भाः सन्ति, ये तावद्वैदिककवीनां कृते रहसि स्थिताः प्रसङ्गाः सन्ति। एतादृशान् एव रहस्यान् प्रकाशयितुम् औपनिषदिक-ऋषयः स्वमेधाया मन्थनेन ज्ञानपुञ्जत्वेन उपनिषदां निर्माणं कृतवन्तः।

वैदिक-ऋषयः (कवयः) अनया शैल्या विविध-विषयान् सहजरूपेण प्रकाशनस्य प्रयासं विहितवन्तः । प्रहेलिकात्मककाव्यस्यारम्भः ऋग्वेदादेव दृश्यते। प्रहेलिकानामासाम्

---

201 क.) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः | (काव्यप्रकाशः 1/5)

ख.) उत्तमकाव्यस्य वैदिकोदाहरणम् “द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न् अन्यो अभि चाकशीति ॥” (ऋ.१/१६४/२०)

202 क.) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् | (काव्यप्रकाशः १/५)

ख.) अवरकाव्यस्य वैदिकोदाहरणम् “अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ऋ. १/१६४/१

आध्यात्मिकव्याख्या आधिक्येन अनुमता भवति अतः प्राधान्येन प्रहेलिका इमे अध्यात्मतत्त्वप्रतिपादिकाः सन्ति ।अस्य दिग्दर्शनं यजुर्वेदेऽपि भवति तथा च अथर्ववेद एताः विपुलरूपेण प्राप्यन्ते। लौकिकसाहित्येषु परम्परेयं अविच्छिन्नरूपेण वर्तमाना दृश्यते। प्रहेलिकात्मककाव्यस्य सन्दर्भा: ऋग्वेदे १/१६४/१-३ प्राप्यन्ते। एषु त्रिषु मन्त्रेषु परमात्मन: अथवा आदित्यस्य प्रकाशनं विहितं दृश्यते। आदित्यं देवतात्वेन प्रतिपादयन्त एते मन्त्रा आचार्यसायणेन परमात्मसन्दर्भे परिभाषिताः । एत एव मन्त्रा अथर्ववेदेऽपि अस्मिन्नेव रूपे प्राप्यन्ते। यथाहि -

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।

सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥[203]

एषु मन्त्रेषु आदित्यः, वायुः, घृत्पृष्ठश्च भ्रातृरूपे प्रदर्शिताः सन्ति । सप्तरश्मिश्च पुत्ररूपेण प्रतिपादिता वर्तते। अत्र प्रहेलिकया सहैव प्रश्नोत्तरावल्यपि दृश्यते। अत: अस्या: प्रहेलिकाया: सार्थकता सिद्धा भवति।

ऋग्वेदस्य अस्मिन्नेव सूक्त आदित्यस्य विविधक्रियाकलापां वर्णनं द्योतितं वर्तते । इमौ मन्त्रौ अथर्ववेदेऽपि प्राप्येते । यथाहि –

---

203 इस अलौकिक सुन्दर दाता पुराण पुरुष का बीच का भाई भोक्ता जीवात्मा है और इसको एक तीसरा भाई भी है जो अपनी पीठ पर घृतादि पोषक पदार्थ धारण करता है, यही संसार है। इसी स्थान पर सब प्रजाओं का पालनहारा एक देव है, जिसको सात पुत्र हैं॥१

इस एक चक्रवाले रथ को सात घोडे जोते हैं, परन्तु वस्तुतः सात नामों वाला एक हि घोडा एस रथ को खिचता है । इसी तीन केन्द्रोंवाले जरारहित अविनाशी चक्र में ये सम्पूर्ण भुवन रहे हैं।२
इन सात चक्रों से युक्त रथ के उपर सात वीर खडे हैं इस रथ को सात घोडे खिच रहे हैं। इस रथ पर सात बहनें भी उनके साथ वहिं हैं , जहां गौओं के साथ उनके सात यश भी विराजमान हैं। अ. शौ. सं. ९/९/१-३

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।

अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥[204]

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।

विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥[205]

अनयो: प्रहेलिकयो: आशयं व्याख्यातुम् आचार्येण सायणेन बहुधा प्रयतितं पुनरपि आचार्याणां मतम् अस्ति यत् अनयोर्वास्तविकं स्वरूपं किमस्ति ? एतत् वक्तुं नैव शक्यते । अथर्ववेदीयशौनकसंहितेयः ९/१०/२७ मन्त्रस्तथा च ऋग्वेदीयशाकलसंहितेयः १/१६४/४५ मन्त्रश्च वाणीं प्रहेलिकामाध्यमेन अभिव्यनक्ति । परा, पश्यन्ती, मध्यमा,वैखरी इत्येतासां अवस्थानां वर्णनमेतयोः निहितमस्ति । यथाहि -

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥[206]

यजुर्वेदेऽपि प्रहेलिकानां दिग्दर्शनं भवति । एकस्मिन्न् प्रसङ्गे प्रश्नोत्तरात्मिकया प्रहेलिकया आध्यात्मिकगूढरहस्याश्चोपस्थापिताः सन्ति । तत्र पूर्वं प्रश्नो वर्तते ततः परम् उत्तरम्। एवंप्रकारेण प्रहेलिकात्मकतया सह तस्या:समाधानमपि प्रकटितमस्ति । यथाहि –

शङ्कात्मिको अंशः –

क: स्विदेकाकी चरति.....[207]

---

204 पिता को पाँच पाँव हैं, उसके बारह रूप हैं और वह झुलोक के परले आधे भाग में रहता है, ऐसा एक प्रकार के लोग उसका वर्णन करते हैं, परन्तु कई दूसरे ज्ञानी उसीका ऐसा वर्णन करते हैं कि वह अतिविलक्षण छह अरोंवाले सात चक्रों में रहता है । अ. शौ. सं. ९/९/१२

205 तीन देव किरणोंवाले, अर्थात् प्रकाशमान हैं। इनमें से एक वर्ष में एक समय प्रकाशता है, दूस अपनी निज शक्तियों से सब विश्व को प्रकाशित करता है और तीसरे को केवल गति प्रतीत होती है, परन्तु उसका रूप नहीं दिखाई देता ॥ अ. शौ. सं.९/१०/२६

206 वाणी के चार स्थान हैं इनको मननशील ब्रह्मज्ञान् जानते हैं, इनमें से तीन स्थान हृदय मे गुप्त हैं और जो मनुष्य बोलते हैण् वह चतुर्थ स्थान में उत्पन्न व्यक्त वाणी है। अ. शौ. सं.९/१०/२७

207 यजु:२३/४५

समाधानात्मिको अंशः -

सूर्यऽएकाकि चरति.....[208]

शङ्कात्मिको अंशः –

का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः....[209]

प्रश्नोत्तररूपात्मिका प्रहेलिकैव साधनतमम् एतेषां विषयाणाम् उपस्थापने । कस्यचित् रहस्यात्मकतथ्यस्य अलौकिकरूपेण प्रतिपादनमत्र विहितमस्ति । अस्मिन् गोपथब्राह्मणस्य सिद्धान्तोऽपि दरिदृश्यते ।“परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः” ।[210] एतासां प्रहेलिकानामुत्तराणि अनेकेषु स्थानेषु प्राप्यन्ते, तथा च अनेकेषु स्थानेषु एतत् रहस्यमेवास्ति । यद्यपि एतासां समस्यानां समाधानस्य प्रयत्नः अनेकैः विद्वद्भिः कृतः परञ्च तैः निश्चिततया एतत्प्रतिपादितस्य वास्तविकः स्वरूपो न कथितः ।

अथर्ववेदे अनेकेषु स्थलेषु प्रहेलिकात्मकशैल्याः प्रयोगो दृश्यते । सन्दर्भा इमे अन्येभ्यो आधिक्येन सौन्दर्यापादकाः प्रतीयन्ते । शौनकसंहितायाः प्रथमो मन्त्ररेव रहस्यात्मकं तथ्यं प्रकटीकरोति –

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥[211]

अस्मिन् मन्त्रे “त्रिषप्ताः” शब्दोऽपि रहस्यात्मको वर्तते अस्याशयावबोधः सम्पूर्णायाः प्रहेलिकायाः बोधवत् कठिनतरा वर्तन्ते । अस्य शब्दस्याशयः को वर्तते ? अस्य निर्णयो भाष्यकारः आचार्यसायणोऽपि नैव कर्तुं शक्नोति स्म । तैः अस्य “त्रिषप्ताः” शब्दस्य त्रिविधं व्याख्यानं प्रकटीकृतम्। प्रथमार्थे विधौ सः “त्रिषप्ताः”इत्येनं द्विविधं विभाजनं करोति। त्रयः सप्त

---

[208] यजुः२३/४५

[209] यजुः२३/४५

[210] गो.ब्रा.पू.भा.१/२१

[211]सातवलेकरभाष्यम्-(सब रूपों को धारण करके, जो तीन-गुणा-सात पदार्थ सर्वत्र व्यापते हैं, उनके शरीर के बल वाणी स्वामी आज मुझे देवे॥) अ. शौ. सं.१/१/१

वा । त्रिभ्य: आशय: - त्रिलोका:, अग्निवाव्यादित्या:, सत्वरजस्तमंसि, ब्रह्माविष्णुमहेशा:। सप्तभ्य: आशय: वर्तते –सप्तर्षि:, सप्तग्रहा:, सप्तमरुद्गणा:, सप्तलोका: ,सप्तच्छन्दांसि ।

द्वितीयविधौ “त्रिषप्ता:” इत्यस्य अभिप्राय: वर्तते त्रिरावृतसप्त। अस्यैवाधारेणार्थ: कृत: -- सप्तसूर्य: सप्तऋत्विक्, सप्तादित्याश्च, सप्तनद्य:, सप्तलोका: , सप्तदिशा सप्तर्षय: वा। सप्तग्रहा: सप्तमरुद्गणा: च। तृतीये विधौ अस्याभिप्राय: वर्तते – त्रिगुणितं सप्त अर्थात् एकविंशति: ,यस्मिन् द्वादशमासा::, पञ्चृतव:, त्रिलोका: एक सूर्यश्च सम्मिलिता: सन्ति। अथवा एवमपि एकविंशति: भवितुं शक्यते- पञ्चमहाभूतानि, पञ्चप्राणा:, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि,एकमन्त:करणञ्च एतानि सर्वाणि सम्मिल्य एकविंशति: भवन्ति।

एषामाशय: यदपि स्यात् परम् इदं तु स्पष्टमेव यत् एतानि सर्वाणि सहयोगीनि सन्ति, अनेन कारणेन एतानि बलादे: प्राप्त्यर्थं याचना कृता अस्ति । एवं करणेन अस्या: प्रहेलिकाया: निश्चय: तु नैवाभवत्। परं इदं स्पष्टं भवति यत् प्रहेलिकात्मककाव्यं अस्य वेदस्य अत्यन्तमहत्त्वपूर्णा विधा वर्तते।

यथा पूर्वं यजुर्वेदे दृष्टा आसीत् प्रश्नोत्तरात्मिका प्रहेलिका, तथैव अथर्ववेदेऽपि प्राप्यते । कुत्रचित् तु केवलं प्रश्न: एव दृश्यते, तस्योत्तरं नैव तत्र दृश्यते। कुत्रचित् एवं भवति यत् प्रश्नात्मिका: ऋचः पूर्वं भवन्ति, अनन्तरं तासामुत्तराणि उपलभ्यन्ते। यथा अथर्ववेदस्य दशमकाण्डस्य द्वितीये सूक्ते दृश्यते –

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम् ।
केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥
ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥
केन देवामनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः ।
केनेदमन्यन् नक्षत्रं केन सत्क्षत्रमुच्यते ॥
ब्रह्म देवामनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः ।
ब्रह्मेदमन्यन् नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते ॥

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।

केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।

ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥[212]

अस्मिन् सूक्ते आरम्भात् एकत: विंशतिपर्यन्तं मन्त्रेषु प्रश्ना: एव दृष्टिगोचरा: भवन्ति, पुन: अनन्तरं उत्तरं प्राप्यते, पुन: प्रश्नोत्तररूपं दृष्टिगोचरं भवति ।

अस्यैव सूक्तस्य विधिना अथर्ववेदस्य दशमकाण्डस्य सप्तमे सूक्ते अपि अनेके प्रश्ना: दृश्यन्ते –

कस्मिन्न् अङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्न् अङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।

क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्न् अङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥

कस्मादङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात्पवते मातरिश्व ।

कस्मादङ्गाद्वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥

कस्मिन्न् अङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्न् अङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।

कस्मिन्न् अङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्न् अङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥

अस्य सूक्तस्य आरम्भात् चत्वारिंशत्सु मन्त्रेषु प्रहेलिकात्मककाव्यं दृश्यते। एवमेव प्रकारेण अथर्ववेदस्य विंशतितमस्य(विंशस्य) काण्डस्य षड्सप्ततितमस्य सूक्तस्य तृतीये चतुर्थे च मन्त्रयो: प्रहेलिकात्मककाव्यं दृश्यते।

यथा पूर्वमेवोक्तमस्ति यत् वेद: स्वविषयं स्वविधिना एव प्रस्तौति। अत: अस्य अनेकेषु मन्त्रेषु यत् प्रहेलिकात्मककाव्यं साहित्यस्य कोट्यां आगच्छति, दृष्टिगोचरं भवति। अथवा यानि स्वतन्त्ररूपेण सम्पूर्णाथर्ववेदे इतस्तत: प्राप्यन्ते यथा –

अ. शौ. सं. --- ४/५/१

अ. शौ. सं. --- ४/६/१

---

[212] अ. शौ. सं.१०/२/२०-२५

अ. शौ. सं. --- ७/४१/२

अ. शौ. सं. --- १०/२/३१

अ. शौ. सं. --- १३/३/९

अ. शौ. सं. --- १३/३/२६

अ. शौ. सं. --- २/१/२

अयं गन्धर्वेण सम्बन्धित: मन्त्र: वर्तते ।

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥ अ.शौ.सं.२/१/२

अस्याशय: ब्रह्मणा वर्तते, अस्य त्रय: पादा: सन्ति ये अस्य त्रीणि अङ्गानि सन्ति - विराट्,हिरण्यगर्भ:,ईश्वरश्च। य: एतान् जानाति, स: स्वज्ञानबलेन पितॄणामपि पिता भवति। एतदेव मनुस्मृति: पुष्टं करोति –

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरस: कवि:।

पुत्रका इति होवच ज्ञानेन परिगृह्यतान्॥[213]

तेतमर्थमपृच्छन्तदेवानागतमन्यव:।

देवांश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं व: शिशुरुक्तवान्।।[214]

एतौ द्वौ श्लोकौ आङ्गिरसऋषे: सन्दर्भे स्त: य: स्व ज्ञानस्योपदेशं स्वपित्रे अपि दत्तवान् आसीत्, अत: तेन स्वपितरम् अपि 'पुत्र' इति पदेन उद्बोधितमस्ति। एतादृश: व्यवहार: केनापि निन्दनीय: नैवोक्त:, परं अस्य विपरीतं देवा: अपि तस्य वचनस्य अनुशंसां कृतवन्त:।

बहुषु मन्त्रेषु एतदृश: प्रहेलिका: भवन्ति , यासां भावाः अद्य भाष्याधारेणैव ज्ञातुं शक्यन्ते। एता: स्वाशयं अत्यन्तं गूढरूपेण स्थापितवत्य: सन्ति। यथा –

---

213 मनु.२/१५१

214 मनु.२/१५२

यो अक्रन्दयत्सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः ।

वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।

ब्रह्मैनद्विद्यात्तपसा विपश्चिद्यस्मिन्न् एकं युज्यते यस्मिन्न् एकम् ॥[215]

एवं प्रकरेण अस्याः “प्रहेलिकात्मककाव्यस्य” परम्परा वैदिककालाद् आरभ्य विभिन्नानां भाषाणाम् आश्रयं गृहीत्वा अद्यपर्यन्तं निरन्तरं चलायमाना वर्तते।

---

215 अ.शौ.सं.८/९/२-३

तृतीयोऽध्यायः
अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां लोकभाषायाः तत्त्वानि

वेदः छन्दोमयी साहित्त्यिकी कृतिरस्ति । छन्दोविधानं मात्रं काव्यसृष्टेरेकमात्रमुपादानमिति । विशिष्टवाक्यविन्यासस्य अर्थेन सह निबन्धनमेव तत्र काव्योक्तेः निमित्तम् । अत्रेदं तावदवधेयं छन्दोज्ञानेन बिना कवेः वास्तविकाभिप्रायस्यापत्तिर्दुर्लक्ष्येति । उपर्युक्तावधारणायाः समुचिताधिगमनाय लौकिककाव्यवाङ्मयं धाराद्वये विभज्य आलोचनम् आपेक्षितमिति । प्रथमे विभागे तानि काव्यानि परिगणितानि भवेयुः येषां रचनाकाले संस्कृतं लौकिका व्यावहारिका भाषा च प्रवर्तते स्म । द्वितीयस्मिन् विभागे तानि काव्यानि समाविष्टानि भवेयुः येषां निबद्धवेलायां संस्कृतं लोकव्यवहारपदात् च्युतभूता सम्पन्ना जाता । तेन च तस्याः शास्त्रीयभाषात्वेनैव प्रसिद्धिः सञ्जाता । अनया दृष्ट्या प्रथमे विभागे रामायण-महाभारतयोः समावेशो भवति । आभ्यां व्यतिरिक्तानि सर्वाण्यपि काव्यानि द्वितीयस्मिन् विभागे परिगणितानि भवेयुः । रामायणमहाभारताभ्यां व्यतिरिक्तानि यानि सर्वाण्यपि आर्षशास्त्राणि छन्दस्सु निबद्धानि सन्ति तथा च वाय्वादिपुराणानां प्राक्तनीयांशानां समावेशोऽपि प्रथमे विभागे स्वीकार्योऽस्ति ।[216] वक्त्रा श्रोतारं प्रति स्वाभिप्रायं प्रतिपिपादयिषया भाषा प्रयुज्यते । अतः या लौकिका व्यावहारिका च भाषा अनुमन्यते तया स्वाभिप्रायं प्रतिपिपादयिषया वक्त्रा पदावली तथा प्रयुज्यते यथा तस्य यथार्थभावः श्रोतारं प्रति अभिव्यज्यमानो भवेत् । यथा व्यावहारिकभाषायां "गच्छ देवदत्त ग्रामं" तथा "देवदत्त ग्रामं गच्छ" वाक्ययोः पदक्रमभिन्नतावशाद् अनुशंसाप्रैषविषकार्थभेदः स्पष्टतया लक्ष्यते । उपर्युक्तनियमस्य माहात्म्यं तस्यां भाषायाम् इतोऽपि वर्धितं भवति (प्रकृतसन्दर्भे वैदिकभाषायाः) यस्यां सूक्ष्मातिसूक्ष्मान् अभिप्रायान् व्यक्तीकर्तुम् उदात्तादिस्वराः प्रयुज्यन्ते । तथा च वाक्ये पदानां स्थानपरिवर्तनेनैव मात्रम् अर्थो भिद्यते । अस्मिन्नालोके अधोलिखितो मन्त्रो द्रष्ट्व्योऽस्ति –

---

[216] व्यावहारिक तथा मात्र शास्त्रीय भाषा में भेद : जो भाषा नैत्यिक व्यवहार के लिए लोक में व्यवहृत होती है, उसे व्यावहारिक भाषा कहते हैं तथा जो भाषा व्यवहार-दशा को छोडकर केवल ग्रन्थ-रचना तक सीमित रह जाती है, उसे शास्त्रीय भाषा कहा जाता है ।

“आ त्वा कण्वा अहूषत, गृणन्ति विप्र ते धियः। देवेभिरग्न आ गहि॥”[217] प्रस्तुतेऽस्मिन् मन्त्रे प्रथमपादस्य क्रियापदं “अहूषत” तथा च तृतीयपादस्य क्रियापदं “आ गहि” सर्वानुदात्ते स्तः। द्वितीयपादस्य क्रियापदन्तावद् “गृणन्ति” उदात्तमस्ति। प्रथमपाद उक्तक्रियायाः द्वितीयपादे चोक्तक्रियायाः तस्मादेव कारणाद्गौणार्थो बोध्यः। द्वितीयपादस्यादौ श्रूयमाणसोदात्तक्रियापदस्यार्थः प्रधानः। अतः ऋचायाः तात्पर्यमिदं स्वीकार्यं स्यात् (पादानुसारिपद्यात्मकार्थः) – “अभितः त्वाम् आजुहुवः कण्वाः, तुष्टुवुः विप्र ! तव प्रज्ञाः, देवैः सहागच्छ अग्ने !” मन्त्रेऽस्मिन् त्रीणि क्रियापदानि सन्ति। एषु त्रिष्वपि स्तुतिकरणमेव प्रधानभूतम्। देवतायाः अग्नेराह्वाहनं तस्यागमनं च तत्स्तुतिनिबद्धमस्ति। अतः स्तुतेरपेक्षया क्रियापदे इमे गौणभूते स्तः।

वैदिककवितायां प्रतिबिम्बितलोकस्य अवधारणा अनेकेषु स्तरेषु सन्दर्भेषु च समीक्षमाणा अस्ति। प्रथमदृष्ट्या धर्मदर्शनभाषिकसन्दर्भेषु च वेदस्तु लोकस्य विपरीतधर्मी लक्ष्यते। वेदस्तु अनादि-साक्षात्कृत-शास्वत-दिव्य-इतिहासातीत-श्रुतिरूप-आम्नायोऽस्ति। अयं विशिष्टक्रममयशब्दसङ्घातात्मकः कर्मकाण्डज्ञानकाण्डात्मकः शब्दराशिरिति। वेदस्य क्षेत्रम् अदृष्टार्थं तत्रैव लोकस्य क्षेत्रं दृष्टं प्रत्यक्षञ्च जागतिकजीवनमस्ति। भाषिकसन्दर्भे अनादिरानुपूर्वी वेदः लौकिकशब्दराशिश्च सादिनी सानन्ता च वर्तते।

संस्कृतभाषायाः प्राकृतभाषाणाम् आलोके समीक्षणे सति प्राकृतभाषाः सहजसामान्यजनाश्रितभाषात्वेन निरूपिताः सन्ति तत्रैव संस्कृतं संस्कारवत्परिमार्जितभाषया सहैव विशिष्टाभिजातवर्गीयभाषात्वेन निरूपिता अस्ति। यद्यपि संस्कृतस्यैव जनभाषीयप्रयोगानामेव नामान्तरं प्राकृतमिति। अतः संस्कृतप्राकृतयोर्मिथः जन्य-जनकभावो न लक्ष्यते। कालान्तरे संस्कृतादेव एका भाषा पृथकीभूता सञ्जाता तया च स्वातन्त्र्येण स्वीया

---

217 “इधर तुझको, मेधावी बुलाते हैं , प्रशंसा करते हैं, हे मेधावी ! तेरे कर्मों की। देवों के साथ, हे अग्नि !, इधर गमन कर तू॥” (अनु.) जियालाल कम्बोज, दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन (२००४)

अस्मिता प्रदर्शिता । एतत्सर्वमेव वाच्यं यदा प्राकृतं व्यक्तिपरकसञ्ज्ञात्वेन अनुमतं स्यात् तथा च तस्य वाच्यत्वेन ताः भाषाः ग्रहीताः भवेयुः यास्तु मध्यकालिकप्राकृतभाषाः ।[218] कालान्तरे संस्कृतस्य मध्यकालिकप्राकृतभाषासु रूपान्तरणन्नाम संस्कृतस्य जनभाषीयरूपस्यैव रूपान्तरणमिति अनुमतं कर्तव्यमिति । पाणिन्यादिवैयाकरणैर्भाषिकनियमनिबन्धनादिद्वारा जनभाषासंस्कृतं देशकालस्थानवशात् प्रवृत्तपरिवर्तनेभ्योऽप्रभावीकर्तुं धिया सुदृढस्याधारस्य निर्माणं सम्पादितम् । एतेषां नियमानां परिपालना साहित्त्यशास्त्रादिनिर्माणकाले तु सर्वदा दृष्टा परन्तु लौकिकस्तरे प्रवाहितनदीवत् भाषायाम् अनेकस्मात् दिशः समागतानि तत्त्वान्यपि समाविष्टानि जातानि । येन जनभाषासंस्कृतस्य रूपान्तरणमपरिहार्यमेव जातम् ।

अतः प्राचीनप्राकृताः संस्कृतस्यैव नामान्तरम् । एतदपि वाच्यं स्यात् संस्कृतमेव प्राकृतनामभिरुच्यते स्म । "प्राकृतं" यौगिकमिदं पदं यस्य तात्पर्यं "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धमिति" अर्थात् व्याकरणसाहित्यादिद्वारा वाण्याः संस्करणं बिना स्वाभाविकतया वाच्या वाण्येव प्राकृतमुच्यते । अत्रेदम् अवधेयमस्ति यत् स्वाभाविकतया वाग्व्यवहारे संस्कृतमेव प्रयुज्यते स्म । वर्णोच्चारणे शब्दव्यवहारे च परिष्कारेण बिनैव संस्कृतस्य प्रयोगोऽस्यां स्थितौ ध्यातव्यो भवेत् । आधुनिकपरिप्रेक्ष्ये प्रसङ्गोऽयं हिन्दीभाषिकप्रदेशेषु सामान्यजनैः हिन्दीभाषायाः प्रयोगस्यालोके सुगतया बोध्योऽस्ति ।

---

[218] प्रस्तुत सन्दर्भ में "प्राकृत" शब्द "मध्यकालीन प्राकृत भाषाओं" का परिचायक है । इन भाषाओं के वैयाकरणों के द्वारा प्रदत्त "प्राकृत" शब्द की व्युत्पत्ति यहाँ द्रष्टव्य है । यथाहि – "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्" (हेमचन्द्र) ; "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते" (प्राकृत-सर्वस्व); "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्" (प्राकृतचन्द्रिका) इत्यादि । "प्राकृतम्" शब्द संस्कृत भाषा का ही शब्द है । प्राकृत वैयाकरणों के द्वारा पाणिनि की व्याकरण के अनुरूप ही प्रस्तुत शब्द की व्युत्पत्ति निर्दिष्ट की गई है । इन व्युत्पत्तियों से स्पष्टतया प्राकृत वैयाकरणों का यहीं विचार लक्षित होता है कि "प्राकृत" भाषा नाम से प्रचलित शब्दों एवं वाक्यों की व्याकरण-लभ्य व्युत्पत्ति तच्छब्दों के मूल संस्कृत भाषा से ही जाननी चाहिए। इसका अभिप्राय प्राकृत वैयाकरणों का यह सुदृढ विचार था कि प्राकृत मूलतः संस्कृत का ही रूपान्तरण है। अतः भारतीय-वैयाकरण-परम्परा के अनुरूप व्याकरण का प्रमुख कार्य उन विकृत हुए शब्दों का प्रचलित साधु रूप बतलाना ही है । प्राकृत वैयाकरण न तो संस्कृत शब्दों का निषेध करते है और "प्राकृत" भाषा नाम से प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति के निर्देश द्वारा उनकी भी युगपत् उपस्थिति सिद्ध करते हैं ।

अस्तु, प्रकृत्या सह संस्कृतस्य सम्बन्धो द्विधा समालोच्यते । प्रथमस्तु संस्कृतन्नाम परिशुद्धा दोषरहिता भाषा तत्रैव प्राकृतं तस्यैव अपभ्रंशरूपम् । द्वितीयस्तु प्राकृतं मूलं संस्कृतञ्च तस्याः परिमार्जितरूपम् । निर्दिष्टदृष्टिद्वयमेवावलम्ब्य समीक्षा संवृत्ता । परन्तु समीक्षाद्वयेऽपि संस्कृतप्राकृतयोः सम्बन्धः संवादात्मकरेव प्रतिपादितो न तु तयोर्मिथो विरोधः संस्तुतः ।

प्राचीनकालादेव लोकरीतय आचाराश्च प्रामाणिका अनुमताः सन्ति । संस्कृतवाङ्मये प्रतिष्ठितेषु विशालकायेषु श्रौतसाहित्त्येषु आगमिकसाहित्येषु धर्मशास्त्रीयसाहित्येषु च धर्म-आचार-व्यवहार-विधिसम्बद्धाः सामग्र्योऽनुस्यूताः सन्ति । श्रौतसाहित्ये श्रौतकर्मस्सु च निहितविशालविवरणेभ्यो व्यतिरिक्तेन शान्तिपुष्टिकर्मप्रतिपादका अथर्ववेदीयगृह्यसूत्रधर्मसूत्रागमाश्च केवलं मात्रम् अभिजातवर्गीयसंस्कृतेरेव प्रतिपादकाः न सन्ति, अपितु अस्य विशालकायदेशस्य जटिलानेकस्तरीयसामाजिकसंस्कृतेरपि प्रामाणिकाः स्रोतस्काः सन्ति । एषु सन्निहितानां लोक-प्रवृत्तीनां प्रामाणिकमध्यननम् अधुना यावदपि सम्पाद्यमानम् अवशिष्टमस्ति । १८३० तमे वर्षे “फ्रीड्रिक रोजन” द्वारा ऋग्वेदस्य प्रथमेन प्रकाशनेन तथा च संस्कृतेतरभाषायां कृतानुवादेन[219] (लेटिन्भाषायामनुवादेन) वेदमाधाय प्रवर्तमानपरम्परागतविचारेभ्योऽपगत्य वेदस्य विषयवस्तुप्रकाशनस्य अभिप्रायप्रकाशनस्य वोपक्रमः समारब्धः । विविधविचारधाराभिः सम्बद्धैः विचारकैर्वेदविद्यावादिभिश्च वेदमाधाय नवीनदृष्ट्या आलोचना समारब्धा । तेषाम् अभिमता निम्नकोटिषु विभज्य प्रस्तावयितुं शक्यन्ते–

[1]Rigveda-Sanhita, LIber primus, Sanskrite et Latine (1838) (Ed. And Trans.) Fridericus August Rosen, Wm. H. Allen & co.: London.

क.)वेदस्तु समाजस्य वर्गविशेषेणैव सम्बद्धत्वात् असर्वजानीनसाहित्यत्वेन अथ च लोक-सामान्यम् अपाकर्तुं प्रवर्तमानसाहित्यत्वेन अनुमन्तव्यं भवेत् । अस्य मतस्य पोषकत्वेन मैक्सम्यूलरमहोदयरुद्धरणीयोऽस्ति –

"The first objection then against our treating the Veda as an historical document is that it is not truly national in its character, does not represent the thoughts of the whole of the population of India, but only of a small minority, namely Brahmans, and not even of the whole class of Brahmans, but only of a small minority of them, namely of the professional Priests." [220]

ख.) वैदिकवाङ्मयस्य मूलस्रोतस्काः वैदिकसंहिताः समाजस्य वर्गविशेषस्य सामान्यवर्गस्य वा धार्मिकमान्यतानां कृत्यानां वा सङ्ग्रहमात्रम् अवधेयमस्ति । अस्य मतस्य पोषकत्वेन "आर.एन.दाण्डेकर" महोदयरुद्धरणीयोऽस्ति –

"This proto-Vedic religion can be thought of as having been made up of two main strands, namely, the religious beliefs and practices of the classes in the community and those of the masses. The activity of the composition of *Mantras* relating to both these religious strands, which presumably began in Balkh, was continued by the Vedic Aryans during their victorious march towards India, and also after they had settled down in the land of the seven rivers….they then occupied

---

[220] Maxmullar, *India: What can it teach us?* Munshiram manoharlal, Delhi (Indian edition), p. 77.

themselves was to collect, revise, arrange, and organize their heritage of stray and scattered Mantras. It was out of this activity of *samhitikarana* that the two great collections, namely, the *Rigveda samhita* and the *Atharvaveda Samhita* emerged." [221]

उक्ताध्ययनधाराद्वयमपि अनुसृत्य तात्कालिकलोकसंस्कृतौ वेदस्य प्रभावो नगण्यरेव लक्ष्यते ।

ग.) जे.गोण्डाप्रभृतीनां विचारकानां मतमिदं प्रवर्तते यद्वैदिकशब्दानां मूलभावना ऐन्द्रजालिककृत्यैः धर्मेण वा मिश्रिता अस्ति । तदनुसारं वैदिकसंस्कृतौ प्रचलिता उत्सवाः पर्वाणि च स्वात्मनि शक्त्युत्पादनस्य अवसरभूताः सन्ति तथा च एभिरुत्सवैः पर्वभिश्च कर्मकाण्डीयपद्धतीनामनुष्ठानेन प्रकृतेः जीवन्तरूपैः सह आत्मीयतानिष्पादनं क्रियते ।

घ.)वेदस्तु उच्चकोटिकदार्शनिकविचाराणाम् अनुभवानाञ्च कोषग्रन्थः अस्ति । श्रीयुतेनारविन्देन मतमिदमुपस्थापितम् –

"वेद प्राचीन काल में ज्ञान की एक पवित्र पुस्तक के रूप में आदृत था, यह अंतःस्फुरित कविता का एक विशाल संग्रह माना जाता था, उन "ऋषियों" की-द्रष्टाओं तथा संतों की-कृति माना जाता था जिन्होंने अपने मन द्वारा कुछ गढकर बनाने की जगह एक महान्, व्यापक,शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्य को अपने आलोकित मनों के अंदर ग्रहण किया और उसे "मन्त्रों" में मूर्त्त किया।"[222]

---

221 Dandekar, R.N., *Some Aspects of the History of Hinduism*, University of Poona, Poona, p.33-34.

222 श्रीअरविन्द, अभयदेव(अनु.),वेद-रहस्य (पूर्वार्द्ध), श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, पृ.१.

परञ्च एतत्परकविचारधारयाऽपि वेदस्य सम्बन्धः जनसाधारणेन लक्षितो न भवति । अस्यामपि स्थितौ वेदः योगिनां साधकानां वा ग्रन्थराशिरेव लक्ष्यते । परञ्च दृश्यते शिष्टसाहित्यं हि लोकसंस्कृतेः लोकजीवनस्य च आधारभूमावेव पुष्पितं पल्लवितञ्च भवति। वैदिक-कवितायाः लोकसांस्कृतिक- काव्यधारायाः समालोचनम् इत्थमपि पोपुष्यते । **अरण्यसूक्ते** (ऋक्.शाक.सं.,१०/१४६) अरण्यसंस्कृतेः बिम्बः प्रकाशितो भवति । सूक्तमिदं लोकजीवनस्य आत्यन्तिकं सामीप्यं भजते यथाहि वने गोचारणविवेचनम्, काष्ठकर्तनम्, फलपुष्पनिचयसङ्ग्रहणम्, तृणकाष्ठसञ्चय इत्यादयः प्रतीकपदार्थत्वेन सूक्तेषु समन्विता इव प्रतीयन्ते। तथैव **"कितवसूक्तम्"**[223]यस्मिन् कितवस्य मनोस्थित्या अथ च तस्य सामाजिकदशायाः भावगह्वरं चित्रणं दरीदृश्यते।

ङ.) सर्वादौ स्वामिना दयानन्देन वैदिकमन्त्राणां सामाजिकाभिप्रायोऽपि स्पष्टीकृतः । तदनुसारं वैदिकमन्त्राणां प्रयोजनमुत्कृष्टसमाजस्य निर्माणाय तद्दशाद्दिशानिर्धारणमस्ति । परन्तु तैरपि वैदिकमन्त्रेषु लोकसंस्कृतेः लोकसमाजस्य सामान्यवर्गस्य चोपस्थितिर्न प्रदर्शिता।

शौनकसंहितायां लौकिकपदावली

लौकिकवैदिकपदावली अत्र सङ्ग्रहीता । एकस्मिन् कोष्ठके प्रातिपदिकाः सङ्कलिताः सन्ति द्वितीयस्मिन् कोष्ठके तत्तत्प्रातिपदिकस्य लोकनिष्ठार्थः कथितोऽस्ति ।

बाण = बाणः[224]

---

[223]ऋक्.शाक.सं, १०/३४

[224] आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् । आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ अ. शौ. सं. ३/२३/२ सायण भाष्यम् हे स्त्रि ते तव योनिं प्रजननस्थानं पुमान् पुंस्त्वोपेतो गर्भ ऐतु आगच्छतु। तत्र दृष्टान्तः। बाण इवेति। यथा बाणः इषुधिं निषङ्गं स्ववासस्थानं स्वभावतः प्राप्नोति तद्वत् अनिवारितगतिर्गर्भः स्वस्थानं

बलि = उपहारः[225]

बलास = यक्षमा रोगविशेषः[226]

बन्धन = निर्बन्धनम्[227]

प्रविशतु इत्यर्थः। स च ते त्वदीयो गर्भः (पुत्रः पुत्रत्वेनपरिणतः) दशमास्यः दश मासान् भृतः तावत्कालभरणेन सर्वावयवसम्पूर्णः वीरः वीर्येण बलेन उपेतः सन् अत्र अस्मिन् प्रसूतिकाले आ जायताम् अभिमुखम् उत्पद्यताम्।

[225] सहस्त्रपष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः। अमूस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव॥

सायणभाष्यम् – सहस्रपृष्ठः सहस्रशरीरः शतधारः शतसंख्यकाभिधाराभिरभृतमयीभिर्युक्तः अक्षितः अक्षीयमाणः। भुज्यमानोऽपि क्षयम् आप्राप्नुवन्नित्यर्थः। देवयानः देवान् इन्द्रादीन् यास्ति गच्छति पुण्यकृतः अनेनेति देवयानः। देवत्वप्राप्तिसाधनभूत इत्यर्थः तथा स्वर्गफलभूतं स्वर्गं प्रति अन्तरङ्गसाधनत्वात् तदात्मकोयम् इत्यर्थः हे यजमान त्वया क्रियमाणोयं ब्रह्मौदनः एतत्संज्ञकः सवयज्ञः। उक्तगुणविशिष्टो भवतीत्यर्थः। अपि च ते तव बलिहाराय बलिः उपायनद्रव्यं तद्धरणार्थम् अमून् प्रजया पुत्र भृत्यादि रूपया रेशय अल्पीकुरु। उपक्षीणान् कुर्वित्यर्थः॥ अ. शौ. सं. ११/१/२०

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः । एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः ॥

सायणभाष्यम् – हे प्राणसर्वा इमाः जाः प्रदेवतिर्यङ्मनुष्याद्याः यथा येन प्रकारेण तुभ्यं त्वदर्थं बलिहृतः बलेर्भोक्तव्यस्य अन्नस्य हर्तारः उपहर्तारो भवन्ति एव एवं तस्मै विदुषे बलिं हरान् हरन्तु प्रयच्छन्तु। हे शुश्रवः शृण्वन् प्राणत्वा त्वां यः शृण्वत् शृणुयात् तव माहात्म्यमतिपादकं मन्त्रजातं श्रवणेन्द्रियेण जानीयात्। तस्मै इति सम्बन्धः। अ. शौ. सं. ११/४/१९

[226] आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् । तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत्॥

सायणभाष्यम् –आशरीकम् सर्वतोहिंसकम् एतन्नामानं रोगं तथा विशरीकं विशेषेण हिंसकम् एतन्नामानं च बलासम् बलस्य असनकर्तारं बलक्षयकारकम् एतन्नामानं पृष्ट्यामयं सर्वाङ्गव्यापिनम् एतन्नामानं च रोगं तक्मानं कृच्छ्रजीवनकर्त्तारं यस्मिन् सति कृच्छ्रणजीवनं भवति तादृशं विश्वशारदम् सर्वस्य सर्वदा वा विशरणकर्तारम् एवम् अन्यानपि रोगान् जङ्गिडो मणिः अरसान् पीडनासमर्थान् करत् करोतु॥

अ. शौ. सं. ९/३४/१०

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः ।वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन् नाम ते पिता ॥

सायणभाष्यम् –आञ्जनस्य आञ्जनसाधनस्य द्रव्यस्य त्रयो रोगा दासाः दासवद् वशवर्तिनः। तान् अनुक्रामति तक्मा। कृच्छ्रजीवनहेतुर्ज्वरस्तवमशब्दवाच्यः। बलासः शारीरं बलम् अस्यति क्षिपतीति बलासः संनिपातादिः। आत् अनन्तरम् अहिः सर्पः। तज्जन्यविषाविकार इत्यर्थः। ऎते प्राणापहारिणो रोगाः आञ्जन प्रभावेण निवर्तन्त इत्यर्थः। अ. शौ. सं. ४/९/८

[227] तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्। न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥

वणिज् = वणिज्[228]

फाल = हल इत्यस्मिनर्थे[229]

पूल्य = 'लाज' इत्यस्मिन् अर्थे । पुल्लियां इति लोकभाषायाम् ।

पृदाकु = सर्पजातिविशेषः ।

पृष्ट्याभय = पर्शुकापिडायाम् ।

पेत्वम् = मेषार्थे ।

प्रततामह् = प्रपितामह अर्थे ।

प्रतिदीवन् = कितवार्थे ।

प्रतिदुह = सद्योदुग्धक्षीरार्थे ।

सायणभाष्यम् – ते पूर्वोक्ता द्विविधाः शत्रवः अधराञ्चः अधोमुखम् अञ्चन्तो गच्छन्तः प्र प्लवन्तां नदीप्रवाहस्य उपर्येव गच्छन्तु। न कदाचित् पारं प्राप्नुवन्तु इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। बन्धनात्। बध्यतेऽस्मिन्निति बन्धनं तीरवृक्षादिकं बध्नात्यनेन नावम् इति बन्धनं रज्जुः। ततश्छन्ना वियुक्ता नौरिव। सा यथा तीरम् अप्राप्ता नदीप्रवाहेण अधो नीयते तद्वत्। अ. शौ. सं. ३/६/७

228 इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु। नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥ ३/१५/१ सायणभाष्यम् –अहं व्यवहर्ता इन्द्रं परमैश्वर्योपेतं देवं वणिजं वाणिज्यकर्तारं चोदयामि प्रेरयामि प्रवर्तयामि। सः वणिक्त्वेन प्रेरित इन्द्रो नः अस्मान् ऐतु आगच्छतु आगत्य च नः अस्माकं पुर एता पुरतो गन्ता अस्तु भवतु। किं कुर्वन् अरातिं वाणिज्यविधातकं शत्रुं परिपन्थिनं पर्यवस्थातारं मार्गनिरोधकं चोरम्। मृगं व्याघ्रादिकं च नुदन् हिंसन् ईशानः ईश्वरो नियन्ता स इन्द्रः मह्यं वणिजे धनदाः वाणिज्य लाभरुपधन प्रदाता अस्तु भवतु।

229 शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥

सायणभाष्यम् - सुफालाः शोभनानि लाङ्गलमुखानि अस्माकं शुनं सुखं यथा भवति तथा भूमिं वि तुदन्तु विकृषन्तु। कीनाशाः कर्षकाः शुनं यथा भवति तथा वाहान् बलीवर्दान् अनु यन्तु अनुगच्छन्तु। यद्वा शुनः सुखकरो देवः। सीरो लाङ्गलाभिमानी देवः। तौ युवां हविषा अस्मदीयेन तोषमाणा तोषमाणौ तुष्यन्तौ अस्मै यजमानाय ओषधीः व्रीहियवाद्याः सुपिप्पलाः शोभनफलोपेताः कर्तं कुरुतम्। अ. शौ. सं. ३/१७/५

प्रतिपण = विनिमय प्राप्त परकीयवस्तुमूल्यार्थे ।

प्रतिमित् = गृहस्यवर्णनप्रसङ्गे शब्दोयं दृश्यते / यथाहि –

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥[230]

प्रतोद = कशार्थे ।

ज्वरवर्णनम् = ज्वर विशेषः कस्मिन् स्थाने प्रवर्धते। तस्य वर्णनमित्यं मिलति-

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः ।
यावज्जातस्तक्मंस्तावान् असि बल्हिकेषु न्योचरः ॥अ.शौ.सं. ५/२२/५

प्रफर्वी = व्यभिचारिस्त्रियाम् ।

प्रमोत = बधिरार्थे मूकतार्थे वा।

मयुख = कीलक

मलिम्लु = दस्यु:, प्रसह्यचौर, विप्लवकारी

मुलाली = मृणाल

मुष्क = अण्डकोश (अ. शौ. सं. ६/१३८/४, ५)

मुष्टि-हन् = मल्लयुद्धार्थे

मूजवत् = वंशादिनिर्मिता करण्डिका

मृगयुः = आखेटेन जीविकोपार्जनं कुर्वद्भ्यः प्रयुज्यते । व्युत्पत्तिस्तु 'ये आत्मनो मृगान् कामयन्ते ते मृगयवः'।

---

230 अ.शौ.स. ९/३/१ उपमित, प्रतिमित और परिमित शाला को तम खोलते हैं , सबसे वरण करने योग्य शाला के बन्दों को तम खोलते हैं। (रमस्वरूप शर्मा गौड)

मेधि = यूपार्थे/ पशुशालार्थे

युग = प्रासङ्गार्थे आवद्धार्ये वा (जुये) इति लोकभाषायाम्

युथ = गोकुलार्थे, गोवृन्दार्थे, "गवां संहति" इत्यस्मिनर्थे

योजन = दूरतायाः परिमापे

रज्जु = रशनार्थे

रथर्वी = "पृदाकू" इत्यस्मिन् अर्थे

रथ-वाहण = रथस्थापनाऽऽधार

रेष्मन् = झञ्झावात

रेष्म –च्छिन्न = वात्याऽऽन्दोलिततृणादि (अ. शौ. सं. ६/१०२/२)

रैभी = "नाराशंसी" इत्यस्मिन्न् अर्थे लोके तथा "आला-उदल" , "गोगा" इत्यादीनां गाथाः श्रूयन्ते।

रोपणाका = सारिका

रोहिणी = लोहितवर्णीया गौः

रोहित = लोहितवर्णीया अश्वी / हरिणी

लक्ष्मन् = स्व-स्वामित्वं लक्षयितुं गोधनस्य राग-रञ्जनेन लक्षितानि चिन्हानि।

लाङ्गल = सीराश्वाद्भागे दादर्याय संयोज्यं काष्ठम्

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां साम्यविधानार्थं लौकिकोपमानानि

अथर्ववेदीयशौनकसंहितेयोपमाप्रसङ्गानाम् आलोचनेन वैशिष्ट्यमेकं दृष्टिगोचरं भवति तच्च श्रौती-उपमायाः प्राचुर्येण प्रयोगः । वैदिकर्षयः स्वस्मिन् काव्ये स्वाभाविकताया अकृत्रिमतायाश्च पक्षपातिनो दृश्यन्ते । तैर्यदपि वक्तव्यमासीत् तदृजुशैल्या निगदितम् । येऽपि भावा अभिव्यङ्ग्या आसन् ते आडम्बररहितभाषया अभिव्यक्ताः । सिद्धान्तोऽयमेव उपमाप्रसङ्गेष्वपि कार्यान्वितो दृश्यते । प्राकरणिकस्य सुगतया परिचयं कारयितुं अप्राकरणिकस्योपस्थापनं लोकेऽपि सामान्यतया दृश्यते । तद्यथा कस्यचिदपि शक्तिमत्तां प्रदर्शनार्थं भीमरुपमानत्वेन प्रस्तूयते लोके । भीमस्य चित्रे समुत्कीर्णे मस्तिष्क एव वक्त्रा यद्वक्तव्यं भवति तत् साधुतया अभिव्यज्यते । इत्थमेव अथर्ववेदीयशौनकसंहितायामपि भाषाडम्बरं विहाय काव्यं सर्वग्राह्यं विरचितुं प्राकरणिकस्य अप्राकरणिकस्य च उपस्थापनं दृश्यते । शौनकसंहितेयोपमानाम् एतद्वैशिष्ट्यमपि दृश्यते यत् तास्तु अनायासेनैव बुद्धिगम्याः प्रायशः 'इव', 'यथा' आदिभिः उपमावाचकशब्दैः श्रूयमाणत्वात् । इत्थं एतेषां शब्दानां श्रवणमात्रेणैव उपमायाः स्वरूपो निश्चीयते । श्रुतिकाव्ये श्रौती-उपमानां सद्भावस्तस्य काव्यस्य वैशिष्ट्यं लोकोन्मुखीं प्रवृत्तिञ्च द्योतते । एतादृक्स्थलेषु प्रायशः प्राकरणिकाप्रकरणिकयोः चित्रं यत्र सुगतया प्रस्तूयते इतोऽपि तत्र उपमायाः स्वाभाविकताया अपि हानिर्न भवति । संस्कृतसाहित्यस्य आदितमयोः लौकिककाव्ययोः रामायणमहाभारतयोः एतादृशाम् उपमानां बाहुल्यं दृश्यते । तत्रैव परवर्त्तिभिः कविभिः स्वबुद्धिकौशलं प्रदर्शयद्भिः आर्थी-उपमायाः सभेदप्रभेदं स्व-स्वकृतिषु प्राधान्येन उपयोगो व्यधायि ।

शौनकसंहितेयोपमाप्रसङ्गेषु प्रायशः उपमानानि स्थावरजङ्गमात्मकजगतो विविधेषु स्थलेषु ग्रहीतानि सन्ति । प्रथम एव सूक्ते अथर्वा ऋषिर्वाचस्पतिं, ज्ञानस्याधिष्ठातृदेवताम्, स्तुवन् कामयन्नस्ति श्रुत-धारणलक्षणां मेधाम् ऐहिकामुष्मिकफलसाधनभूतां विविधभोगहेतुभूतां ग्रामादिसम्पदञ्च उभे अपि फले विस्तीर्णे कुरु, इतोऽपि सर्वेभ्योऽपि ऋषौ प्रभूते कुरु, धनुषि आरोपितया मौर्व्या आर्त्नी यथा अभिवितन्येते । अनेन स्वरसतः अप्राप्तयोरपि बलात् प्रापणमुक्तम्। यथाहि –

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥[231]

अस्या उपमाया औचित्यं दर्शनीयमस्ति । अत्र ऋषिणा वाचस्पतिः शक्तिसम्पन्नधानुष्कत्वेन विभाव्यते । यथा कुशलेन धानुष्केन धनुषि मौव्यारोपेन शरसन्धानं क्रियते तदा धनुषोऽटन्यौ बलात् तं प्रति प्रणते भवतः तद्वदेव वाचस्पतिर्देवता कामयन्तं ऋषिं एकेन वेदज्ञानमन्येन च ऐहिकसमृद्धिं प्रदास्यति । शाकलसंहितायामपि धनुष्कोटिद्वयस्य धानुष्केन सह परस्परं सम्बन्धः प्रतिपादितो दृश्यते । तत्र ऋषिणा प्रार्थ्यते यत् ते ज्ययाकृष्माणयाकृष्यमाणे धनुष्कोट्यौ समनस्कयोषितौ स्त्रियौ इव भर्तारं प्रति आचरन्ती तथा च अभितश्चरन्त्यौ उपस्थाने माता पुत्रं धारयति तद्वद्विभृतां धारयेतां राजानम् । इमे धनुष्कोट्यौ विसंवादरहिते आर्त्नी गच्छन्त्यौ राज्ञोऽमित्रान् विहिंसंत्यौ शत्रूंश्चापविध्यताम् । यथाहि –

ते आचरंती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे ।

अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरंती अमित्रान् ॥[232]

परम्परामिमामेव अनुसरद्भिरृषिभिः उपनिषत्स्वपि युद्धोपयोगिधनुःशरे रूपकत्वेन प्रयुज्येते । यथाहि अथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषदि निरूप्यते –

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महस्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

तथा

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥[233]

प्रथममन्त्रानुसारम् औपनिषदं धनुस्तस्मिञ्शरम् । कं विशिष्टमित्याह । उपासानिशितं संतताभिध्यानेन तनूकृतं सन्धानं कुर्यात् । सन्धाय चाकृष्य सेन्द्रियमन्तःकरणं स्वविषयाद्विनिवर्त्य तस्मिन्ब्रह्मण्यक्षरे लक्ष्यैकभावनाभावस्तद्गतेन चेतसा लक्ष्यवेधनस्योपदेशोऽस्ति । द्वितीयस्मिन् मन्त्रे प्रणव ओंकारो धनुः । आत्मस्तु शरः । यथा धनुः

---

231 अ. शौ. सं. १/१/३

232 अ. शौ. सं. ६/७५/४

233 मुण्ड. २/२/३,४

लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथाऽऽत्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोंकारः । अथर्ववेदीयोपमावदेषां रूपकानाम् औचित्यमपि स्वतःसिद्धं दृश्यते । संहितायां वेदज्ञानस्य प्राप्तिः उपमामाध्यमेन प्रतिपादिता वर्तते तथा अथर्ववेदीयोपनिषदि ब्रह्मप्राप्तिः रूपकेन प्रदर्शिता अस्ति । प्रसङ्गद्वयेऽपि कल्पनाया आधारस्तु तुल्यमिति । एतद्व्यतिरेकेन अथर्ववेदीयैर्ऋषिभिर्विविधेषु प्रसङ्गेषु धनुःशरादीनामुपमानत्वेन ग्रहीत्वा उपमानामौचित्यपूर्णा योजना निष्पादिता । यथाहि निम्नाङ्कितेषु सन्दर्भेषु दृश्यते –

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥[234]
अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति ।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥
आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥[235]
असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथामिव ॥[236]

प्रथमे मन्त्र ऋषिणा प्रार्थ्यते यत् यथा बाणः इषुभिं निषङ्गं स्वावासस्थानं स्वभावतः प्राप्नोति तद्वत् स्त्रियः प्रजननस्थानं पुमान् पुंस्त्वोपेतो गर्भ ऐतु । द्वितीये मन्त्र ऋषिणा प्रार्थ्यते यत् ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रस्याधिपतिर्देवः वीर्यकामस्य पुंव्यञ्जनं वीर्यप्रदानेन धनुरिव आ तानय आततम् ऊर्ध्वायतं कुरु । तृतीयमुद्धरणं तावत् द्वितीयस्यैवोत्तरभूतं लक्ष्यते । तत्र ऋषिणा निरूप्यते यत् धनुषि अध्यारोपितां ज्यामिव पुंव्यञ्जनं मन्त्रप्रभावेन आततं वीर्ययुक्तं क्रियते ।

उक्ताः तिस्र अपि उपमाः यौनविषयकाः सन्ति ।कौशिकगृह्यसूत्रे अथर्ववेदीयविषयाणां निरूपणं दृश्यते । तत्र एको लौकिकविषयः "स्त्रीकर्माणि" नाम्नाऽपि निरूपितोऽस्ति । तदनुगुणमेव एते प्रसङ्गाः द्रष्टव्याः । ईदृक्प्रसङ्गाः अथर्ववेदस्य लोकसांस्कृतिककाव्यधारामेव अनुप्राणिताः कुर्वन्ति ।

अथर्ववेदीयऋषिभिः यत्र युद्धेषु व्यवहृतानां धनुःशरादीनामुपमानत्वेन आधानं विधत्तं तत्रैव युद्धस्य युद्धे भूयमानानां दुन्दुभिघोषाणाञ्च निरूपणं चित्रविचित्रकल्पनाभिः कृतम् । दुन्दुभीनां घोषः सिंहस्य गर्जनया उपमिमीते । यथाहि –

---

234 अ. शौ. सं. ३/२३/२

235 अ. शौ. सं. ४/३/६,७

236 अ. शौ. सं. ५/१३/६

सिंह इवास्तानीद्द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्न् ऋषभो वासितामिव ।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥[237]

तेन घोषेण च विपक्षिणामभिभवः सिंहस्य विजयेन निरूपितः । यथाहि –

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उसृइयाभिः ।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्न् अभि तंस्तनीहि ॥[238]

एतयोः द्वयोरुपमयोरौचित्यं दर्शनीयमस्ति । यथा सिंहगर्जनया सर्वैरपि वन्याः भयभीताः सन्तः इतस्ततः पलायन्ते तथैव दुन्दुभिघोषेण विपक्षिसैन्याः परस्परसङ्घातेन सङ्कुले युद्ध एव रताः भवन्ति । दुन्दुभिसिंहयोश्च गर्जनायाः जयनशीलतायाश्च साम्यमस्ति । अतः धर्मसाम्यमिदं अस्य च साम्यस्य हृद्यता च उपमाया औचित्यं वर्धयति ।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां केचन प्रसङ्गाः त उपलभ्यन्ते यत्र ऋषिभिः विशेषभावावेशेन स्वीयमनसोऽभिप्रायान् विशेषबलपूर्वकम् अभिव्यञ्जितुम् 'उपमा' मन्त्रादौ एव प्रयुज्यते । प्रयोगैरेभिः शौनकसंहितेयभाषायाः व्यावहारिकभाषापत्तिर्भवति । यथाहि –

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश ।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥[239]
अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥[240]
वात इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् ।
कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥[241]
अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥[242]
घर्म इवाभितपन् दर्भ द्विषतो नितपन् मणे ।
हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ॥[243]

---

[237] अ. शौ. सं. ५/२०/२

[238] अ. शौ. सं. ५/२०/१

[239] अ. शौ. सं. ५/१४/१०

[240] अ. शौ. सं. ५/१४/१३

[241] अ. शौ. सं. १०/१/१७

[242] अ. शौ. सं. १२/१/५७

[243] अ. शौ. सं. १९/२८/३

उद्धरणेष्वेषु सावधारणतया वर्ण्यविषयं प्रतिपादयितुम् उपमानस्य मन्त्रादौ प्रयोगो विधत्तोऽस्ति। प्रथम उद्धरणे तावत् पुरस्तनपादत्रयेऽपि प्रारम्भ एव उपमानस्य प्रयोगो दृश्यते। ऋषिणा अत्र प्रार्थ्यते यत् कृत्या कृत्याकर्तारं प्रति तथैव प्रत्यागच्छेत् यथा पुत्रः स्वपितरं प्रतिनिवर्तते अथ वा यथा सर्पे निरुद्धे सति अभिष्ठितः सन् दंशयते तथैव कृत्या कृत्याकारिणं दंशयेत अथ वा बन्धने भङ्गे सति निवर्तितः सन् स्वाभिक्रामिणम् अभिगच्छति तथैव कृत्या कृत्याकारिणं प्रहरेत्। अत्र एकस्मिन्नेव मन्त्रे लौकिकोपमानत्रयं दृश्यते। प्रथमे मन्त्रे यथा कृत्या वर्णिता अस्ति तथावदेव द्वितीये मन्त्र अपि कृत्या निरूपिता अस्ति। अत्र ऋषिणा प्रार्थ्यते यत् यथा अग्निः स्वप्रयोक्तारं प्रत्यागच्छति तथैव कृत्याऽपि स्वप्रयोक्तारं प्रति प्रतिकूलेन आचरेत्। तृतीये मन्त्रे ऋषिणा प्रार्थ्यते यथा वायुः वृक्षाणामुन्मूलयिता भवति तथा हे कृत्ये त्वमपि शत्रूणां गामश्वं पुरुषञ्च उच्छिष । उपर्युक्तकृत्याविषयकोपमानाम् आलोचनेनैव सम्भवतया वैदिकविदुषा 'ओल्डेनबर्ग' आख्येन निरूपितं यत् प्राचुर्येण अथर्ववेदीयोपमाः ऐन्द्रजालिकादिगुह्यविद्यया सम्बद्धाः दृश्यन्ते।

चतुर्थोऽध्याय:

अथर्ववेदीयशौनकशाखीया नाम् ऋषीणां लोकदर्शनम्

काव्यतत्त्वस्य सन्दर्भे विमर्शकैः प्रायश: प्रतिभा व्युत्पत्तिः अभ्यासश्च इमे काव्यहेतुत्वेन स्वीकृता: सन्ति। एतेष्वपि प्राधान्यं वर्तते प्रतिभाया:।[244],[245] भामहस्य दण्डिनश्च उक्तिषु वस्तुतः काव्यस्य समृद्धिः कविप्रतिभा एव प्रतीयते। ध्वनिवादिभिः आचार्यैः तु व्युत्पत्तिः तथा अभ्यासादधिकं प्रतिभा एव श्रेष्ठत्वेन स्वीक्रियते। आचार्यानन्दवर्धनस्य एतैः पंक्तिभिः तु प्रतिभायाः एव प्रधानत्वं लक्ष्यते। यत्र तैः उक्तं यत् यदि कविषु कवित्वस्य बीजरूपाशक्तिः प्रतिभा विद्यमानाऽस्ति तर्हि तस्मिन् ते दोषाः अपि न दृश्यन्ते ये व्युत्पत्त्याभावात् भवन्ति तथा यदि प्रतिभा नास्ति केवलं व्युत्पतिरस्ति तर्हि तस्य रचनायां दोषाः स्पष्टतः अवभासन्ते।[246] आचार्येण अभिनवगुप्तेन इयम् अपूर्ववस्तुनिर्मात्री प्रज्ञा इत्युक्तम् अस्ति।[247] मम्मटेन कवित्वबीजरूपसंस्कारविशेषः इत्युक्तं येन विना काव्यस्य प्रसारो भवितुमेव नार्हति। यदि प्रसारः स्यात् तर्हि स उपहास्यो भवेत्।[248] यथा पृथिव्याः धारण-शक्तिः पृथक् नास्ति तथैव कवित्वस्य प्रतिभाशक्तिः कविसकाशात् पृथक् कर्तुं न शक्यते। प्रतिभया कवेः रचनायां शब्दार्थसमूहोऽ अलंकारः एवं च उक्तिमार्गाः सर्वेऽपि उद्भासिताः भवन्ति। राजशेखरैः उक्तमस्ति[249]– अस्याः प्रतिभाया ऊन्मेषो व्युत्पत्तिमाध्यमेन भवति। स्थावरजंगमात्मकलोकवृत्तस्य दर्शनं विविधशास्त्राणामनुशीलनेन यत् नैपुण्यमागच्छति इत्युक्ते बहुज्ञता आगच्छति सैव व्युत्पत्तिः इत्युच्यते। तथा व्युत्पत्तिं विना कवेः कवित्वस्य प्रसारो भवितुं

---

244 काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत:| काव्यालंकारः १/५

245 नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् |
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याःकारणं कव्यसंपदः || काव्यादर्शः १/१०३

246 अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः |
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते || ध्वन्यालोकः ३/६ परिकरश्लोकः

247 अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा | ध्वन्यालोकलोचनम् १/६

248 शक्ति: कवित्वबीजरूपसंस्कारविशेष: यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् | काव्यप्रकाशः १/३ वृत्तिः

249 या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति | काव्यमीमांसा चतुर्थ-अध्यायः

नार्हति अतः प्रतिभायाः प्रसारार्थं व्युत्पत्तिरवश्यमपेक्षते। अस्याशयस्य पुष्टिः आचार्यअभिनवगुप्तस्य पंक्तिद्वारा भवति। यत्र चोक्तमस्ति – प्रतिभा तु वर्णनीयवस्तु नूतनप्रकारेण उपपादनमिति व्युत्पत्तिश्च उपयुक्तवस्तुनां पौर्वापर्यविवेचनं कौशलम्।[250] अतः प्रतिभा यदि नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा वर्तते तर्हि व्युत्पतिः चराचरजगत: पर्यवेक्षणेन प्राप्ता बहुज्ञता वर्तते। कविः लोकम् अथवा लोकजीवनं प्रत्यक्षं यथा अनुभवति तथैव तत् स्वप्रतिभाबलेन नूतनप्रकारेण कथयति। अत एव कवेः प्रशंसयाउक्तमस्ति-

कवीनां मानसं नौमि तरन्ति प्रतिभाम्भसि |

यत्र हन्सव्यान्सीव भुवनानि चतुर्दश || [251]

अथर्ववेदीयशौनकशाखायाः सूक्तेषु यदा समीक्षात्मिका दृष्टिः पतति तदा तेषां रचयितॄणां कवित्वस्य भानं भवति तथा दृश्यते यत् तैः स्वप्रतिभाबलेन अस्य लोकस्य विविधानां जीवानां तच्चेष्टानां केन प्रकारेण अभिव्यक्तति: कृताऽस्ति। तेषां मन्त्रनिर्माणशक्तिः लोकानुभवाधारेणैव कवितासृष्टिं रचयन्ती दृश्यते। यद्यपि अस्य लोकस्य एकैव व्यापकसत्ता वर्तते तथापि भिन्नदेशीया: कालीना: कवयश्च स्वदर्शनशक्त्यानुसारेण अस्मात् लोकादेव स्वस्य-स्वस्य काव्यलोकस्य मर्यादां कुर्वन्ति। एद्वेव मनसि निधाय कविः प्रजपति: उक्तोऽस्ति। यस्मै कवये लोको यादृशो रोचते तथैव सः तं निर्माति।[252] कविः स्वरुच्यानुसारं काव्यलोकस्य निर्माणं करोति। अतः एकस्य कवेः लोकात् अन्यस्मात् कवेः लोकस्य किञ्चित् साम्यं तथा किञ्चित् वैषम्यं दृष्टिगोचरं भवति अतः इदं वक्तव्यं भवति यत् अस्य कवेः लोकवर्णनमेवं प्रकारेण अस्ति अन्यस्य अनेन प्रकारेण इति। एवं प्रकारेण ऋग्वेदीयशाकलशाखेयकविभि:

---

[250] शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम् |
व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवास्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् ||ध्वन्यालोकलोचनम् ३/६

[251] भोजप्रबन्धः ११२ सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, निर्णय सागर प्रेश, मुम्बई, १९५२ पृ. ३२

[252] अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः|
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते || ध्वन्यालोकः ३/ ४२,४३ वृत्तिः

अथर्ववेदीयशौनकशाखेयकविभिश्च वर्णिते लोके साम्येन सहैव किञ्चित् वैशिष्ट्यमपि दृश्यते। यद्यपि वेदद्वयस्य कविभिः आधिक्येन अस्यैव लोकस्य स्वरूपस्वभावादिकं स्वप्रतिभानुसारं वर्णितं वर्तते तथापि विविधदर्शनशक्ते: तथा च कवित्वशक्तेः कारणात् शाकलशाखेयर्चाम् अवभाषितलोकापेक्षया शौनकशाखेयमन्त्रसूक्तेषु प्रतिभासिते लोके किञ्चित् वैशिष्ट्यं दृश्यते। शाकलशाखे कविद्वारा लोकस्यदर्शनम् आध्यात्मिकतायाः उच्चशिखरमारुह्य कृतम् इत्यनेवं प्रतीयते तथा अथर्ववेदीयशौनककविभि: लोकस्यदर्शनं मुख्यतः अर्धभौतिकभूमौ स्थित्वा। उभययो: क्रान्तदर्शित्वं वर्तते तथा उभयोः प्रतिपादने कविता, परन्तु एकस्मिन् लोकजीवनम् आध्यात्मिकतया रञ्जितम् अस्ति तथा अन्यस्मिन् तस्य आध्यात्मिकं रहस्यं विश्वरूपेण अनुप्राणितं वर्तते। अतः शाकलशाखेय कवेः लोको यदि ईदृशी वर्तते[253] तर्हि अथर्ववेदीयशौनकशाखेय कवेः लोकरएवं प्रकारीया वर्तते।[254]

ऋग्वेदीयशाकलशाखायाः कवेः भावना विश्वरूपेण 'एकं सद् ' प्रति उन्मुखीभूता वर्तते तत्रैव अथर्ववेदीयशौनकशाखायाः ऋषिकवेः भावना वैश्वरुप्यं प्रति आकृष्टा वर्तते। परन्तु अस्यार्थोऽयं सुतरां नास्ति यत् ऋग्वेदीयशाकलशाखायां केवलं दार्शनिकतैव अस्ति, कविता नास्ति। वस्तुतो वेदद्वये अपि दार्शनिकतत्त्वं वर्तते तथा च कविता अपि, किन्तु एकस्मिन् भिन्नासु देवतासु देवाधिपतिषु च परमात्मतत्त्वं स्पष्टं दृश्यते अन्यस्मिन् च अस्य लोकस्य वस्तूनामपि तेषां मूलस्वरूपेण च वर्णनं वर्तते। अनया दृष्ट्या वेदद्वये यद् भिन्नत्वं वर्तते तस्य आभासः सायणाचार्यैः अथर्ववेदस्य भाष्योपक्रमणिकायां श्लोकमाध्यमेन प्रदर्शितोऽस्ति।[255] अथर्ववेदीयशौनकशाखायाः प्रारम्भिकेषु मन्त्रसूक्तेषु लोकः स्वात्मनो रहस्यात्मकप्रवृत्या

---

253 इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान् |

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः|| ऋ. १/१६४/४६

254 अ.शौ.शा.१/१/१

255 व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम् ।

ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति ॥

प्रदर्शितोऽस्ति। अयं लोकः ऋग्वेदीयर्षे लोकवत् विविधदेवानां केवलं क्रीडाङ्गणं नास्ति अपितु समस्तम् आधिभौतिकं आधिदैविकं तथा च आध्यात्मिकदिव्यशक्तीनां कर्मभूमि वर्तते। अतः अथर्ववेदीयशौनकशाखायाः ऋषिः वागाधिष्ठातृवाचस्पति स्वशक्त्या तं शक्तिमन्तं कर्तुं प्रार्थयति।

ऋग्वेदीयशाकलशाखायाः ऋषेः लोकदर्शनम् अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकवेः लोकदर्शनं अस्यां दृष्ट्यां भिद्यते यद् ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः ऋषिकविः आध्यात्मिकभूमौ स्थित्वा स्वदृष्टिं विशेषतया द्युलोकादीन् प्रेरयति। तत्रैव अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविः इमं लोकं न विस्मरति यतो हि सः अस्यैव संसारस्य प्राणी वर्तते। सः आधिभौतिक्यां भूमौ स्थित्वा अत्रत्यानां वस्तूनां स्वरूपं, स्वभावञ्च पश्यति तथा तेषां विवरण एव स्वकलां कवित्वं च प्रदर्शयति। यद्यपि अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः लोकदर्शने क्वचित् आर्षकल्पना आध्यात्मिकविचारैः सह दृश्यते। परन्तु सा कल्पना प्रायशः अस्य लोकस्य वस्तुभिःसह विशेषरूपेण सीमिता वर्तते। क्वचित् तस्य दृष्टिः लोकातिगवस्तूनामपि प्रदर्शनाय प्रवर्तते। अस्मिन् वेदे वर्णितविषयानुसारं तेषां महत्त्वं न्यूनमेवाऽस्ति। वस्तुतः महत्वं तु ऐहिकवस्तूनामेवास्ति। वैदिकऋषिभिः पृथ्वी, अन्तरिक्षम्, द्यौः, एतत् लोकत्रयं स्वीकृतं वर्तते। तदनुसारमेव विभागं सम्बद्धवस्तूनां स्वरूपवैचित्र्यादिकस्य प्रदर्शनम् अत्र कृतम् अस्तिपूर्वं यथानिगदितम्– अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिभिः आधिक्येन पृथिवी वर्णिताऽस्ति तथा च पृथिवीस्थानां विभिन्नजीवानां पदार्थानां च स्वरूपावलोकने स्वात्मनः प्रवृत्तिः प्राधान्येन प्रदर्शिताऽस्ति। अतः प्रथमम् अयं लोकः कीदृशो वर्णितोऽस्ति अस्यां संहितायामिति प्रदर्शनमेव क्रियते।

भूलोकः

पृथ्वी – ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः ऋषिभिः स्वोर्ध्वगामिनीदृष्टिद्वारा उषायाः सौन्दर्यं यत्र 'दिवोदुहिता','सूर्यपत्नी' तथा च हसन्ती युवती आदिभिः नानाप्रकारकैः रूपैः प्रदर्शितं तथा

कविहृदय अनेकेषु सूक्तेषु अभिव्यक्तं तत्रैव अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकविभिः भूमौ स्थित्वा स्थावराणां वस्तूनां जङ्गमानाञ्च जीवानां दर्शनं कृतम्। तस्य द्रष्टुः आर्षदर्शनशक्त्या अयं लोकः प्रत्यंशेन गोचरीभूतोऽस्ति पृथिवीं प्रति तद् हृदयं स्नेहातिशयेन सम्पूरितमस्ति। तत् तु पृथिवीसूक्तस्य मन्त्रः अभिव्यक्तीभूतं जातम्[256] श्रद्धास्पदभावेन सह सूक्तस्य अवसानं कुर्वता उक्तम् – हे पृथिवी मात! माम् कल्याणकारिण्याप्रतिष्ठया प्रतिष्ठितं करोतु। हे कवे! माम् स्वर्गं प्रापयतु तथा लक्ष्मीं विभूतिं च प्रयच्छतु।[257] एवं प्रकारेण चेतनप्राणिभिः अचेतनवस्तुभिः च सह वैदिककविभिः स्वस्य रागात्मकः सम्बन्धः स्थापितो वर्तते। विविधदेवान् प्रति अपि तेषामयं सम्बन्धो दृश्यते। एतादृक्स्थलेषु काव्यस्य आस्वादः कर्तव्यः। इदमेव काव्यस्य वैशिष्ट्यमित्युच्यते। यथा च डॉ. ए.सी. बोसमहोदयैः उक्तम् अस्ति One of essential traits of poetry is found in the delicate human touches. The poetic Approach to the divine in the Vedas[258] ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः उषासूक्तं यद्यपि काव्यदृष्ट्या अत्यन्तं महत्वपूर्णं वर्तते तथापि तत्र उषां प्रति कवीनां तथा मृदुलभावाः न अभिव्यक्ताः सन्ति यथा अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां पृथ्वीसूक्ते दृश्यन्ते।

ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां केवलं मन्त्रत्रयात्मिकं पृथिवीसूक्तं दृश्यते[259] यच्च काव्यस्य दृष्ट्या तावत् महत्वपूर्णं न वर्तते। अनेन स्पष्टीभवति यत् अस्य लोकस्य वस्तुभिः सह ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः ऋषेः तावान् रागात्मकः सम्बन्धो नास्ति यावान् अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषेः वर्तते। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः पृथ्वीसूक्तस्य अवलोकनेन ज्ञायते यत् भूमिः तथा तत्रत्यानां निवासिनां स्वाभाविकं निरूपणं यथा अस्मिन् वेदे दृश्यते तथा अन्यत्र नास्ति। तथ्यमिदमेव परिचायकभूतं वर्तते, यद्

---

256 अ.शौ.सं.१२/१ संपूर्णं सूक्तम्

257 अ.शौ.सं.१२/१/६३

258 prabuddha bharat, December,1941.

259 ऋ.५/८४

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिः इमं लोकं प्रति विशेषेण आकृष्टोऽस्ति। अतः एव तेषां चित्रणं रोचकमस्ति। अस्यां पृथिव्याम् ऋषिभिः जन्म लेभे तथा च अस्याः आञ्चल एव तैः क्रीडा कृता। तस्मात् एनां प्रति अनुराग: कथं विस्मर्तुं शक्यन्ते। अतः सर्वत्र तेषां काव्ये पृथिव्याः तद् विविधानां जीवानां वस्तूनां काव्यात्मकं वर्णनं प्राप्यते। इदमेव अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः लोकदर्शनस्य वैशिष्ट्यं वर्तते।

सीता –

चराचरजगत: जनन्या: पृथिव्याः वर्णनं कुर्वता अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविना औषधीनामुत्पत्तिदायिनी सीता हलस्य रेखा न विस्मर्य्यते। तस्याः विस्मरणमपि न शक्यते यतोहि सैव अन्नादीनाम् उत्पादयित्री वर्तते तथैव च प्राणस्य रक्षणं पोषणं च भवतः। कवेः यदि पृथ्वीं प्रति मातृत्वभावो वर्तते तत्रैव सः सीतां प्रत्यपि स्वादरभावं व्यक्तीकरोति। उभयस्य वर्णने विशेषेण साम्यं दृश्यते। यां दोहनक्रियां पृथिव्या सह योजयनता पृथिवीसूक्तस्य द्रष्ट्रा ऋषिणा मन्त्रम्[260] उक्त्वा स्वश्रद्धायुक्तभाव: पृथिवीं प्रति अर्पितः तेनैव प्रकारेण सीतां प्रति विचारं व्यक्तीकुर्वताऋषिणा निगद्यते। यथाहि-

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ [261]

अर्थात् इन्द्रः सीतायाः ग्रहणं कुर्यात् तथा पूषा तस्याः रक्षणं कुर्यात्। सा रेखा दुग्धोपलक्षितमभीष्टं फलं प्रतिसंवत्सरं प्रयच्छेत्। अत्र कविः सीतायां चेतनत्वस्य प्रतिष्टां कुर्वन् तां गौरूपेण पश्यति। येन प्रकारेण गौः क्षीरं प्रयच्छति तेनैव प्रकारेण सीता अपि उत्तरोत्तरवर्षम् अन्नादिकं प्रयच्छति। येन च सर्वेषां पालनं भवति। एतावदेव न पर्याप्तम् ऋषिः सीतां प्रति देवत्वबुद्धिं प्रतिपालयन् तां स्वं प्रति अभिमुखीकर्तुं प्रार्थयति। यथाहि-

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।

---

260 अ.शौ.सं.१२/१/९,४५

261 अ.शौ.सं.३/१७/४

यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥[262]

एको जडपदार्थो सुमनस्को भवितुं नार्हति अपितु कवेः काव्यलोके जडचेतनयोर्मध्ये भेदो नास्ति। अत्र जडोऽपि चेतनम् तथा चेतनमपि जडो भवितुमर्हति। कवीनां दिव्येयं दृष्टिः या निर्मितायां सृष्टौ प्रकृतेः नियमानामपेक्षा न करोति। अत एव आचार्यो मम्मटः कविभारत्याः प्रशंसां कुर्वन् 'नियतकृतिनियमनरहितः' इति प्रतिपादयति।

भैषज्यम् –

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकविना भूमेः सीतायाश्च वर्णनेन साकमेव भूमौ विद्यमानानामौषधीनां काव्यात्मकं वर्णनं सम्पादितम्। तेषाम् अलौकिकोपयोगितां दृष्टिपथे नीत्वा ताः कार्तज्ञयं प्रकटितुं ऋषिभिः स एव भावो रक्षितः यः उभयस्य निररूपणसमये तेषां हृदये आसीत्। तेषां वर्णने कला वर्तते सा च काव्यकला इत्युच्यते। अनया एव ऋषयः ता: देवी रूपेण अस्माकं सम्मुखे उपस्थापयन्ति प्रतिपादयन्ति च- हे देवि! भवन्माध्यमेनैव पुरुषः द्युलोकं अन्तरिक्षं, पृथिवीलोकं च पश्यति।[263] तथा वयं सर्वेऽपि प्राणिनः द्रष्टुं शक्नुमः।[264] ऋग्वेदीयकविरपि औषधं प्रति अनेन भावेन एव भावितो दृश्यते। तेन प्रतिपाद्यते हे अम्ब ओषधे! भवत्या स्थानानि अनेकानि सन्ति तथा च भवत्याः उद्गमाः अपि सहस्रं वर्तन्ते।[265] एवं प्रकारेणैव अग्रिममन्त्रेऽपि कवि ताः प्रति आदरभावं प्रकटीकरोति तथा माता, देवी, आदिभिः शब्दैः सम्बोधयति।[266] कवेः सामान्यमनसः एवं विधानां प्रकारस्य भावानाम् अभिव्यक्तीकरणं न भवति। यदा वर्ण्यवस्तु प्रति तस्य असाधारणोऽनुरागः आकर्षणश्च भवति तदैव तस्य हृदयात् एवं प्रकारेण भावोद्गाराः व्यक्ताः भवन्ति। कदाचित् भावभाराक्रांतो भूत्वा चेतनजीववत्

---

262 अ.शौ.सं. ३/१७/८

263 अ.शौ.सं.४/२०/१

264 अ.शौ.सं.४/२०/२

265 शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः । ऋ.१०/९७/२

266 ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरूपं ब्रुवे । ऋ.१०/९७/४

ताभिः सह सम्बन्धं स्थिरीकुर्वन् वदति यत् द्युलोको जलवृष्टिरूपेण सिकतां सिञ्चति अतः तेषां पिता वर्तते तथा पृथ्वी माता वर्तते।[267] क्वचित् ताषु तदभिमानिन: देवतायाः प्रतिष्ठां कृत्वा 'सुभगे' इत्यादि सम्बोधनेन सम्बोधयति[268] औषधीनामेवं प्रकारेण वर्णने तथा च आयुर्वेदस्य ज्ञानिनः ज्ञाने नितान्तो भेदो वर्तते। कस्यचित् आयुर्वेदज्ञस्य कृते औषधी: देवी तथा सुभगा भवितुं नार्हति। एवं विधान् भावान् तु कोऽपि ऋषिरेव व्यक्तीकर्तुं पारयति। इदं तस्य स्ववस्तुदर्शनं वर्तते। वर्णनेन इदं सिद्ध्यति यत् अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिः आदौ कविरनन्तरं ऋषिः अथवा तस्मिन् ऋषित्वस्य कवित्वस्य च उभयस्य समन्वयो दृश्यते। एषैव दिव्यशक्तिः तेषु विद्यमाना आसीत्।

वनस्पतिः –

वानस्पत्येऽपि अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषेः कवित्वमयी दृष्टिः वर्तते। औषधीनां वनस्पतीनाञ्च प्राकृतिकसौन्दर्यादिकं प्रति आकृष्टो भूत्वा ऋषिणा भावुकेन हृदयेन तदनुप्राणितभावा अभिव्यक्ताः। वर्षाऋतौ पृथिव्याम् अङ्कुरिता औषधयः तीक्ष्णश्रृङ्ग लक्ष्यन्ते।[269] तथा च वनस्पत्यादिषु अपि एकयाः नवीनचेतनायाः संचारो दृश्ते दृश्यमिदं मनोऽभिराममिति। तस्मिन्नेव वृष्टिजलेन वर्धमानां शमीं दृष्ट्वा तां प्रति मैत्रीभावं स्थापयन् मन्त्रं रचयति स्म। यथाहि-

बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि ।
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥[270]

मन्त्रेणाऽनेन ऋषिणा उपमया शम्या सह आत्मनः स एव सम्बन्धो निरुपितः येन सः आत्मानं पृथिव्या सीताया ओषधीभिश्च निवहनाति। ओषध्यादिवत् तेन शमी अत्र 'सुभगा' विशेषणेन

---

267 अ.शौ.सं.३/२३/६

268 अ.शौ.सं.३/१८/२

269 अ.शौ.सं.८/७/९

270अ.शौ.सं. ६/३०/३

सम्बोध्यते। अनेनैव विशेषणेन ऋषिणा तस्यां चतना प्रतिष्ठिता। चेतनतत्वं आरोप्याऽपि ऋषिकविः स्वस्य आत्मनः अस्तित्वं ताभ्यः पृथकीभूतमेव निरुपयति परन्तु क्वचित् सः तस्याः सौन्दर्येण तन्मनस्कोऽपि भवति। तन्मनस्केयं मधुवनस्पतेः वर्णने प्राप्यते।[271] प्रथमावस्थायां ऋषिः तद्देवमयेव भवितुं काङ्क्षते यद् जिह्वाग्रे जिह्वामूले च मधुः स्यात् येन च सः मधुमयीं वाणी वदेत् तथा सर्वेषां द्रष्टौ मधुमत् दर्शनीयो भवेत्।[272] इत्थमेव कामयन् ऋषिः तद्रूप्यमेवाप्नोति तथा च तस्य प्रतीतिः भवती यथा सः मधुवनस्पत्याः सेवनकर्ता तथैव सः तस्मादपि मधुमतः अतिशयेन मधुमान् उपपन्नोजातः। स च वनस्पतिः तं तथैव सेवते यथा मधुयुक्तशाखाः जनैः सेव्यन्ते। यथाहि-

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान् मधुमत्तरः ।

मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ [273]

अत्र कवेः वर्ण्यवस्तु प्रति तन्मयत्वस्य सैव अवस्था वर्तते या ब्रह्मजिज्ञासोः स्वज्ञेयत्वस्य विषये भवति। येन प्रकारेण स्वस्मिन् तथा ज्ञेये मध्ये भेदो न प्रतीयते तेनैव प्रकारेण कविः स्वस्मिन् तथा वर्णनीयपदार्थे भेदं न पश्यति।

अत्र किञ्चिदपि उपमानादिकं विनैव मधुवनस्पतेः वर्णनं जातमस्ति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविना पृश्निपर्णः अपि विर्णितः अत्र तेन उपमां आश्रृत्य काम्यते – पृश्निपर्णी कुष्ठादिरोगकारण भूतान् पापान् नाशयेत् येन प्रकारेण अग्निः अरण्यवृक्षान् नाशयति।[274] अत्र अग्न्युपमानस्य औचित्यं दर्शनीयं वर्तते। ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां च वनस्पतिविषये ऋषिभिः समानो भावो व्यक्तीकृतः। अस्मिन् सन्दर्भे ऋग्वेदस्य 'अरण्यानीसूक्तं' विशेषेण उल्लेखनीयं वर्तते[275] यस्मिन् च जडशीले सत्यपि

---

271 अ.शौ.सं.१/३४ सूक्त

272 अ.शौ.सं.१/३४/२,३

273 अ.शौ.सं.१/३४/४

274 अ.शौ.सं.२/२५/४

275 ऋ.१०/१४६

सा पशूनां मातृत्वेन उपवर्णिताऽस्ति।[276] भावधारेयं प्रवाहिता भूत्वा अथर्ववेदीयसंहितायामपि प्रवाहशीला लक्ष्यते। संस्कृतसाहित्येऽपि एषा धारा अप्रतिहतगत्या प्रवाहमाना वर्तते। प्रायः कविभिः प्राकृतिकस्य जगतः वर्णनकाले जडवृक्षादिषु अपि चेतनत्वस्य प्रतिष्ठा कृता वर्तते। आदिकाव्यरामायणे वाल्मीकिना सीतायाः हरणकाले रामस्य सम्भाषणं पंचवट्याः विविधवृक्षैस्सह कारितमस्ति।[277] अभिज्ञानशाकुन्तलेऽपि कालिदासेन शकुन्तलायाः पतिगृहगमनसन्दर्भे सम्पूर्णाऽपि वनस्थले शोकसागरनिमज्जिता प्रदर्शिता अस्ति। अत्र लताः स्वपीतपर्णान् त्यक्त्वा अश्रुपातं कुर्वन्त्यः सन्ति।[278] भवभूतिना अपि उत्तररामचरिते वनदेवतायाः वासन्तीकल्पनया निरूपणं परम्परयाऽनयैवानुप्राणितमस्ति। वस्तुतः लौकिकाः कवयः वैदिककवीनां ऋणीभूताः वर्तन्ते। यतोहि तैरेव वैदिकैः प्रकृतिदर्शनेयं विधा लौकिकेभ्यः शिक्षिताऽस्ति। एयमेव कवीनां लोकदर्शनस्य अलौकिकता वर्तते।

आपः –

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविभिः जलं प्रत्यपि काव्यात्मिका दृष्टिः रक्षिता अस्ति। इदं जलमपि औषधिवनस्पतिवत् तेषां कृते दिव्यभावनयोपलक्ष्यते।[279] अत्र देवीपदमत्यन्तं सार्थकं वर्तते। अनेन जलस्य द्योतनादिगुणानां प्रकाशनं भवति तथा च अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषेः वर्णप्रीतिरपि ज्ञायते। सः जलस्य हिरण्यमयवर्णं दृष्ट्वा मुग्धो भवति तथा च कामयन् अस्ति सः यत् इदम् तस्य कृते सुखदायकं स्यात्। यथाहि-

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥[280]

---

[276] ऋ.१०/१४६/६

[277] वा.रा.अरण्यकाण्ड, सर्ग६०, श्लोक १२/१४/१७/१८/२०

[278] 'अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः' । अभिज्ञान साकुन्तलम्, अङ्क ४, श्लोक ११|

[279] अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः । सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ अ.शौ.सं.१/४/३

[280] अ.शौ.सं.१/३३/१

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकवेः एषः सौन्दर्यानुभूतिः लोकदर्शनं इतोपिअधिकं सजीवं करोति। ऋषिः जलस्य तादृशस्वरूपस्य कल्पनां करोति यस्य नेत्रं शिवः वर्तते तथा शरीरमपि। ते नेत्राभ्यां स्वं द्रष्टुं तथा शरीरेण त्वचः स्पर्शयितुं कामना कुर्वन्ति।[281] कविः वस्तुनः बहिः तथा आन्तरिकसौन्दर्यं प्रति आकृष्टां भूत्वा ऋचामाध्यमेन व्यक्त अञ्जयति। जलस्य सौन्दर्यं पश्यन् कविः तथा तन्मयो भवति तं विग्रहरूपेण अस्माकं सम्मुखे आनयति। जलस्य इदं वैदिकवर्णनं संस्कृतसाहित्ये सरोवरवर्णनस्य स्थानं स्वीकरोति। वाल्मीकेः पंपासरवर्णनं तथा बाणभट्टस्य कादम्बर्याम् आच्छोदसरवर्णनं काव्यस्य दृष्ट्या सुन्दरं निदर्शनं वर्तते।

गौः –

पृथिवीलोकस्य अचेतनवस्तुभिस्सह अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकविः चेतनजीवानामपि काव्यात्मकं वर्णनं करोति। तेषां काव्यलोके चेतनस्य अचेतनस्य च लोकवत् पार्थक्यं न दृश्यते यतोहि कदाचित् चेतनमचेतनरूपेण दृश्यते तथा च अचेतनस्य निरूपणं चेतनवदपि दृश्यते। यथा कवेः चेतनवस्तुभिसह सम्बन्धः तस्मादपि अधिकतरेन तस्य अचेतनवस्तुभिस्सम्बन्धो लक्ष्यते। ऋषिकविः चिदात्मकः तस्मात् तस्य चेतनजीवैः सह सम्बन्धः स्वाभाविकोव वर्तते। भूमौ नानाप्रकारकाः पक्षिणः दृष्टाः तेषां च विविधप्रकारकानां चेष्टानां निरूपणं मन्त्रेषु विधत्तम् ऋषिणा। एनं सर्वमविषयीकृत्य ऋषिः प्रतिभायाः स्फुरणमभाव्यमेव लक्ष्यते। तस्मादेव विविधप्रकारकान् जीवान् कवेः कर्मणो विषयीकृत्य इषिभिः आत्मनो विचाराभिव्यक्तिः विधत्ता।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां येषां केषामपि प्राणिनां वर्णनं प्राप्यते तेषु गोः निरूपणं माहात्म्यं भजते। गौः सर्वेष्वपि पशुषु श्रेयस्करी निरूपिताऽस्ति। अस्याः श्रेयस्करत्वं निरूपणायैव एषा “मातः” “देवि” आदिभिः सम्बोधनपदैरपि सम्बोध्यते। गां प्रति ऋषेः

---

281 अ.शौ.सं.१/३३/४

आदरभावस्याऽभिव्यञ्जना अतिशयेन तदा दृश्यते, यदा सः पृथिवीं उषसञ्च गोत्वेन निरूपयति।

यथाहि- **एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्** ॥[282]

ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां गां प्रति पवित्रभावाः अतिशयेन तत्र लक्ष्यन्ते। यत्र ऋषेः तथा तस्य ऋक्स्तुतीनां उपमा धेनुना तथा हविष्येण दुग्धेन च दत्त दृश्यते।[283] उषा तु धेनुरूपेणैव दृश्यते।[284] अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविस्तु इतोप्यधिकम् औचित्यपूर्णं वर्णनं करोति। तेन गोः ऊधः पर्जन्यरूपेण स्तनश्च विद्युत्रूपेण निरूपितः।[285] अत्र कविः रूपकेण ऊधःपर्जन्ययोः स्तनविद्युद्भ्यामभेदं निरूपयति। उपमायाः अपेक्षया रुपकस्य स्वीकृतिः कवेः वर्ण्यविषयं प्रति तादात्म्यापत्तेः सूचिका वर्तते यथा पर्जन्यात् जलवृष्ट्या अनन्तरमपि किञ्चित् जलं शिष्यते तथैव गोदोहनादनन्तरमपि ऊधसि पुनः दुग्धस्रावाय शक्तिः भवत्येव। अतः अस्मिन् रूपके औचित्यस्य निर्वाहो दृश्यते। ऋषिः अस्य लोकस्य वस्तूनां भौतिकोपयोगितां न विस्मरति कदाऽपि। गोः सकाशात् क्षीरो लभ्यते यस्तु यज्ञादिषु हविष्यरूपेणाऽपि उपयुज्यते। गोः वत्सो ज्येष्ठो भूत्वा कृषिकार्यादिकं निर्वहति एतैः कारणैरेव तैः वस्तुष्वपि गोरूपदर्शनं कृतम्। अस्याः भौतिकरूपे तैः दिव्यता अपि दृश्यते यतोहि सा गौः ज्योतीषिं अपि धरति।[286]

ऋषिः तस्याः रूपं प्रति भावुको भूत्वा प्रार्थनां करोति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिभिः दशमकाण्डस्य अन्तिमं सूक्तं गवां कृत एव समर्पितं कृतम्। यत्र च गोः स्वरूपस्य उत्कृष्टं व्याख्यानं कृतमस्ति।

वृषभः –

---

282 अ.शौ.सं ९/७/२५

283 ऋ.१/८७/११

284 ऋ.५/१/१

285 अ.शौ.सं १०/१०/७

286 अ.शौ.सं १०/१०/१५

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकविः गौवत् वृषभस्य तस्य च स्वाभावादिना अपि परिचित आस्ति। स्वाभाविकमेव एतात् स्यात् यतोहि एभिः पशुभिः सः प्रतिदिनं व्यवहरति। तस्मादेव तेन एते पशवः उपमानत्वेन प्राधान्येन ग्रहीताः। प्रायशः वैदिकदेवताः 'वृषभ्' नाम्ना निरूप्यन्ते अपि। शक्तिदृष्ट्या अन्यच्च कामनानां पूरककर्तृदृष्ट्या देवताः यजमानस्य सर्वान् कामान् पूरयन्ति। इन्द्रः सर्वासु देवतासु शक्तिसम्पन्नो निरुपितः। ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः च बहुषु स्थानेषु इन्द्रः वृषभो निगद्यते यथाहि-

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्।

यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः॥

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहन् छत्रुहोऽसि।

यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः॥

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये। तृम्पा व्यश्नुही मदम्॥[287]

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिः तस्य शक्तिमत्तां तथा अन्येषां पशूनां अभिभवनकर्तृत्वसामर्थ्यं स्वाभाविकं दर्परूपिधर्ममुपलक्ष्य इन्द्रादिदेवताः दृष्टाः सन्ति[288] ऋतुमतीं गां दृष्ट्वा उपरंभणं कुर्वन्तं वृषभं दृष्ट्वा अन्यस्मिन् वृषभे यः स्पर्धाभावर उत्पद्यते एतत्सर्वं दुन्दुभीघोषध्वनिना परस्परनीकयोर्मध्ये समुत्पन्नस्पर्धाभावेनोपलक्षितमस्ति[289] साधारणवृषभापेक्षया यः भारं वहति सः अनड्वान् अधिकः शक्तिशाली भवति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिः इन्द्रम् अनड्वानरूपेणाऽपि दृष्टवानस्ति[290] वैदिकः कविः वृषभस्य बाह्यसौन्दर्यमदृष्ट्वा केवलं मात्रं तस्य अन्तश्शक्तिमत्वं दृष्ट्वा एव वदति। एवं प्रकारेण वृषभस्य प्रायशः उपमानरूपेण अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां वर्णनं कृतमस्ति।

अश्वः –

---

287 अ.शौ.सं.४/२४/३, ६/९८/३, २०/२२/१

288 अ.शौ.सं.३/६/४

289 अ.शौ.सं.५/२०/२

290 अ.शौ.सं.४/११/२

गोः वृषभस्यानन्तरमश्वस्य गणना भवति। यतोहि अश्वस्य तत्काले युद्धेषु महान् उपयोग आसीत्। साम्राज्यस्य संवर्धने अस्य विशेषभूमिका आसीत्। अतः अयमत्यन्तमुपयोगी पशुः इति गण्यते। अग्निः साङ्ग्रामिकाश्ववत् शक्तिसम्पन्नोऽभीष्टप्रापकश्चाऽस्ति। यथाहि- **क्रन्दश्वो गविष्टिषु**[291] सः अश्वेन तुल्यं हर्ष्युक्तः सन् सङ्ग्रामे शत्रून् अभिभवति । यथाहि- (वाजी न प्रीतो विशो वि तारित्) एतादृशी परिकल्पना ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः नवमो मण्डलः अश्वविषयिणिभिः परिकल्पनाभिः सम्पूरितो लक्ष्यते। तत्र अश्वः स्वात्मनो द्रुतगामितया श्रुयते। गुणममूमेवाधाय संस्कृतसाहित्ये कविभिः अश्वो निरूपितोऽस्ति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिः तं वायुवेगवन्तं तदपेक्षया अपि मनोवेगवन्तं निरूपयति। यथाहि-

वातरंहा भव वाजिन् युजमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वस्ता पत्सु जवं दधातु ॥[292]

ऋग्वेदस्य ऋषिभिः तत् द्रुतगत्या सूर्यस्य रश्मयः सप्त अश्वाः इति कल्पना कृता अस्ति।[293] तथैव अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिभिः एषा संख्या शतपर्यन्तं परिगणिता।[294] एवं प्रकारेण वैदिकऋषिभिः विविधरूपेण अश्वस्य दर्शनं कृतमस्ति।

अन्यपशवः –

उपर्युक्तवर्णितपशुभ्यो व्यतिरेकेन अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां सिंहः, व्याघ्रः, हस्ती, वृकः, अजः, गर्दभः एषामपि वर्णनं दृश्यते। ऋषिभिः एतेषां विविधचेष्टानां क्रियाकलापानञ्च निरूपणे विधत्तम्। परञ्च प्रायशः इदं सर्वं अप्राकरणिकत्वेनैव विधत्तम्। सम्भवतया एतेषां स्वभाववैचित्र्यस्य प्राधान्येन उपपादनं तेषाम् अभिष्टं न भवेत्। अत एव तैः अचेतनवस्तुभिस्सह एते उपमानरूपेण नियोजिताः सन्ति। तत्र अयमेव विचारः प्रतीयते यथा तेषां वस्तूनां वर्णनं

---

291 ऋ.१/३६/८

292 अ.शौ.सं.६/९२/१

293 ऋ.१/५०/८

294 अ.शौ.सं.१३/२/६

चेतनजीवानां वर्णनद्वारा सजीवत्वेन प्रतिपिपादयिषयैव कृतोऽस्ति येन च तत् वर्णने काव्यात्मकता आगच्छेत्। तत्र सिंहस्य जयनशीलता, हस्तिनः मदोन्मत्तता, व्याघ्रस्य तथा वृकस्य हिंसकवृत्तिः, गर्दभ्याः पादप्रहारादेः दर्शनं भवति। यत्र च स्वाभावोक्तेः बीजं वर्तते। एतान् पशून् हेयान् चिन्तित्वा एतेषामुपेक्षा कर्तुं न शक्यते। इत्थापि अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां लोकदर्शनं विशिष्टं स्थानमस्ति। साहित्ये सिंहः विक्रमत्वगुणेन प्रसिद्धो वर्तते अत एव राज्ञैः सह प्रायशः उप्मानरूपेण निरूप्यते। नृपशार्दूलः, राजसिंहः इत्यादिशब्दकथनमर्त प्रमाणं वर्तते। गजस्य मन्दगतेः नायिकानां कृते उपमा दत्ता वर्तते परन्तु अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां प्रायशः एतेषाम् अभावो दृश्यते। अत्र तेषां स्वभावस्य चित्रणमभिप्रेतमस्ति। अत एव तेषां काव्ये स्वाभाविकता अधिका दृश्यते।

मण्डूकः-

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां चेतनजीवानां वर्णने मण्डूकवर्णनाऽपि विशिष्टं स्थानं वर्तते। ऋग्वेदीयशाकलसंहितायामपि एतस्य वर्णनं दृश्यते। ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां सप्तममण्डलस्य त्र्यधिकशततमं सूक्तं 'मण्डूकसूक्तम्' एव उच्यते। अस्मिन् सूक्ते मण्डूकानां स्वभावस्य चर्चा वर्तते। वर्षाॠतौ यदा सम्पूर्णा प्रकृतिः हरितवर्णीया भवति तदा सरोवरस्य तीरे उपविष्टानां मण्डूकानां कर्कशध्वनिः आकर्षणं जनयति वर्तते। प्रकृतेः नैसर्गिकसौन्दर्यरतैः ॠषिभिः मण्डूकस्येयं कर्कशध्वनिरपि श्रुता अस्ति मण्डूकानाञ्च चित्र- विचित्रमयवर्णस्य समीक्षणमपि विधत्तम्। तस्मिन्नेवकाले ब्रह्मचारिभिः प्रवर्तमानवेदपाठोऽपि तैः श्रूयते। इत्थं मण्डूकस्य ध्वनौ ब्रह्मचारिणः अनूचाने च साम्यं तैः विधत्तम्। एकस्मादयनात्परं वर्षाॠतौ समागमे मण्डूकाः एकत्र कर्कशध्वनिं कुर्वन्ति एकत्र च ब्रह्मचारिभिः वेदपाठप्रारम्भणं क्रियते। एतदेव साम्यं पर्यालोच्य वैदिककविना एते भावाः इत्थं निरूपिताः। यथाहि-

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः ।

संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्दूका अवादिषुः ॥[295]

स्वाध्याये शिष्याः आचार्यस्य वाक्यमनुवदति तत्र वर्षाकालेऽपि मण्डूक अन्यस्य मण्डुकस्य अनुकरोति। सरोवरम् परितः उपविशतो मण्डुकान् दृष्ट्वा ऋषिः अतिरात्रनामकं सोमयागं स्मरति यत्र च ब्राह्मणाः चतुर्षु दिक्षु उपविश्य मन्त्रोच्चरणं कुर्वन्ति।[296] केचन वदन्ति ब्राह्मणानामुपहासार्थमिदं सूक्तं वर्तते इति वस्तुस्थितिर्न विचारणीया। यतोहि अन्यत्र कुत्रचिदपि एतादृक् वर्णनं न दृश्यते। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविः सरोवरे मण्डूकानां प्लवनक्रीडां दृष्ट्वा वदति- हे मण्डूकि त्वं प्रसन्ना भूत्वा शब्दं कुरु यतोहि भवत्याः गर्जनेनैव वृष्टिः भवति। वृष्टिजलेन परिपूर्णे सरोवरे भवन्ती पादचतुष्टयमपि प्रसार्य स्वच्छन्दरूपेण प्लवनं करोतु।[297] लौकिकसंस्कृतसाहित्ये वृष्टिवर्णस्य मण्डूकवर्णनाङ्गभूतमेव जातम्। अस्य पृष्ठे एषा एव वैदिकीपरम्परा दृश्यते। आदिकविना वाल्मीकिना रामायणे वृष्टिवर्णने तु उपर्युक्तवैदिकमन्त्र: एव अनूद्यते यथा। यथाहि-

स्वनैघनानां प्लवगाः प्रबुद्धा विहाय निद्रां चिरसन्निरुद्धाम् |

अनेकरूपाकृतिवर्णनादा नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति || [298]

अस्मिन् लोके यत् तुच्छं वस्तु वर्तते तस्य उपरि तेषां दृष्टिः आसीत्। तथा तैः स्वप्रतिभावशात् काव्यसंसारे तत् बहुमहत् कृतमस्ति इदमेव कवेः लोकदर्शनस्य वैशिष्ट्यं वर्तते यत्र तुच्छं वस्तुरपि महत् दृश्यते।

पक्षिणः –

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविभिः चेतनजगतः पर्यवेक्षणे नानाप्रकारकानां पक्षीणामपि स्मरणं रक्षितमस्ति तथा च तेषां स्वाभावास्पदक्रियाणां वर्णनमपि कृतमस्ति।

---

[295] ऋ.७/१०३/७ अ.शौ.सं.४/१५/१३,

[296] अ.शौ.सं.४/१५/१३

[297] अ.शौ.सं. ४/१५/१४

[298] वा. रा. किष्किन्धा काण्ड २८/३८

प्रातःकाले स्वगृहात्दा पक्षिणः निस्सरन्ति तद्दृष्ट्वा[299] तद्वत् तत्काले सूर्योदयं दृष्ट्वा सूर्यमपि श्येनपक्षित्वेन पश्यन्ति कवयः यः सूर्यस्तु सहस्रपादयुक्तो अस्ति। यथाहि-

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।

स नो नि यच्छाद्वसु यत्पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत्॥[300]

ऋग्वेदीयशाकलशाखीयैः कविभिः प्रायशः अनेनरूपेणैव दर्शनं कृतमस्ति।[301] सूर्यस्य श्वेतवर्णं दृष्ट्वा कविर अपि तं हंसरूपेण पश्यति। यस्य उत्तरायणदक्षिणायनरूपी पंखद्वयी वर्तते।[302] इदं सर्वमपि तेषां सौन्दर्यानुभूतेः परिचायकं वर्तते। अनेन इदं सिद्ध्यति यत् अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकविः केवलं मन्त्रद्रष्टा नास्ति अपितु लोकस्य सौन्दर्यदृष्टिर् अपि तस्मिन् प्रवर्धिता अस्ति।

ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः ऋषिभिः प्रायशः पक्षिणां जगतः अवलोकनमेवंप्रकारेणैव कृतमस्ति। शुनश्शेपस्य स्तुतयो वरुणस्य निकटे तेनैव प्रकारेण प्रतीयन्ते येन प्रकारेण पक्षिणः स्वगृहं गच्छन्ति।[303] ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां उल्लखितो अस्ति इन्द्रेण एकोनशतं नद्य: भयाक्रान्त: श्येनवत् उत्तीर्णः कृतः।[304] अश्विनदेवै: अपि श्येनवदेव अश्वान् उपविश्य आगच्छतः येन प्रकारेण श्येनः स्वपंखान्।[305] एवं प्रकारेण ऋग्वेदीयशाकलसंहितायामपि पक्षिणां वर्णनं जातमस्ति।

कालक्रमेण संस्कृतकाव्येऽपि प्राकरणिकत्वेन अप्राकरणिकत्वेन च पक्षिणां निरूपणं दृश्यते। परन्तु तेषां दर्शने किञ्चित् सारूप्यं वर्तते तत्रैव किञ्चित् वैरूप्यमपि वर्तते। अत्र हंसः

---

299 अ.शौ.सं.६/८३/१

300 अ.शौ.सं.७/४१/२

301 अरुष: सुपर्ण:- ऋ.५/४७/३

302 अ.शौ.सं. १३/३/१४

303 वयो न वसतीरुप - ऋ. १/२५/४

304 नव च यन्नवतिं च स्रवन्ती: श्येनो न भीतो अतरो रजांसि- ऋ.१/३२/१४

305 विभिः श्येनेव दीयतम् – ऋ.५/७४/९

स्वसुन्दरतया तथा मन्दगत्या च प्रसिद्धो वर्तते। शुको यस्य अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां प्रायशः एकस्मिन्नेव सूक्ते उल्लेखो वर्तते परन्तु सः संस्कृतसाहित्ये महत्वपूर्णं स्थानं भजते। राजभवनेषु प्रायशः अस्य निवासो भवति तथा कदाचित् तु इमे कथामपि श्रावयन्ति यथा च बाणभट्टस्य कादम्बर्यां दृश्यते। पारावतः यः अत्र निर्ऋत्याः दूतो वर्तते[306] सः साहित्त्ये राजप्रासादे वल्लभीं सेवमानो दृश्यते। मयूरः, पिकः, सारिकादयः येषां संस्कृतकाव्ये अत्यन्तं महत्वपूर्णं स्थानं दृश्यते। अत्र ते किञ्चिदपि वैशिष्ट्यं न भजन्ते। एवंप्रकारेण अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः लोकदर्शनं, लौकिकसंस्कृतकवीनां लोकदर्शनेन सह यत्र कुत्रचित् साम्यं भजते तत्रैव वैरुप्यमपि दृश्यते। एवं प्रकारेण अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविभिः पृथिवीलोकस्य नानाप्रकारकानां जीवानां दर्शनं कृतम् तथा च ते सर्वे स्वकाव्यस्य विषयत्वेन निरूपिताः। कुत्रचित् ऋषिणा तेषां सौन्दर्यदर्शनं कृतं कुत्रचिच्च तेषां स्वाभाविकचेष्टानां निरुपणं विधत्तम्। तैः साधारणातिसाधारणव स्तूनि अपि हृदयग्राहिपदार्थत्वेन वर्णयित्वा काव्यलोके तेषां प्रतिष्ठापनं कृतम् एतत्सर्वं तेषां प्रतिभायाः व्युत्पत्तेश्च योगस्य फलम्। इत्थं राजशेखरस्यैव उक्तिः चरितार्थभूता भवति- "प्रतिभाव्युत्पपत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ।" इदं परिणामः वर्तते।

अन्तरिक्षलोकः

पर्जन्यः –

अस्य पृथ्वीलोकस्य विविधप्रकारकानि वस्तूनि समीक्ष्य अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिभिः उपरिमर्त्यं समीक्षणाय विचार्य्यते। तत्र किञ्चित् विशेषः कुतूहलो दृष्टः। नभोमण्डले वायुप्रेरिताः मेघाः इतस्ततः सञ्चरन्तः सन्ति। तेषां गर्गररवेन वायुमण्डलमिदं सम्पूरितं दृश्यते। तत्रैव सम्पूर्णासु दिक्षु च विद्युत्प्रकाश आलोकितो दृष्टः। पृथिव्यां एतस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्य प्रतिक्रिया भिन्नैव दृश्यमाना वर्तते। मेघगर्जनमाश्रुत्य कुत्रचित् मण्डूकाः कर्कशध्वनिं कुर्वाणो दृश्यन्ते। कुत्रचिच्च ओषधयः अङ्कुरिताः द्श्यन्ते। प्रकृतेः चित्रविचित्रमयं रूपमालोच्य कवेरार्षकल्पनायाः व्यापारः प्रारभ्यते। एष एव व्यापारः पर्जन्यदर्शनेन उल्लसितो जातः। अत्र

---

306 अ.शौ.सं. ६/२७/१

कविः आकाशे मन्दगत्या सञ्चरन्तं तथा च कदाचित् वृष्टिं कुर्वन्तं मेघं प्रति आकृष्टो वर्तते। सः वृषभवदेव दृश्यते यः कामोद्वेगकारणात् गां दृष्ट्वा नादं करोति।[307] परिपूर्यमानो मेघः तस्मात् मेघेषु उन्मत्तता स्वाभाविको दृश्यते तत्रैव वृषभवत् तेषां गम्भीरोद्घोषाः श्रूयन्ते। अत एव कविना ते मेघाः वृषभरूपेण दृष्टाः। पुनः ऋषिकविः एकमन्यत् चित्रम् उपस्थापयति यच्च अत्यन्तं विचित्रं वर्तते। आकाशे वर्तमानाः पर्जन्याः यदा पृथुलान् जलबिन्दून् वर्षन्ति तदा ते बिन्दवः अजगराः लक्ष्यन्ते[308] अनेन वृष्टिनिपातनस्य भीषणताऽपि गम्यते। कवेः कल्पना एतावत् यावदेन न निवर्तते यदा सः द्रुतगत्या आकाशे सञ्चरतः मेघान् समीक्षते तदा ते अश्वरूपेण प्रतिपाद्यन्ते।यथाहि-

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्न् उदधिमर्दयाति ।

प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वान् एतेन स्तनयित्नुनेहि ॥[309]

अश्वआत्मनो द्रुतगत्यर्थं विख्यातो वर्तते। वैदिककविभिः प्रायः अश्वस्य गुणोऽयमेव विशदीकृतोऽन्यत्राऽपि। अत्र कविना उपमाअलङ्कारं विनैव विविधचित्राणामुपस्थापनं कृतम्। जलवृष्टेः प्राक् मेघैः सह एकम् अन्यत् दृश्यं दृश्यते। वायुः वृष्टेः विभाविनीति। 'सं सं' ध्वनिना वहन् वायुः पर्जन्यानामुपगानं एव कुर्वन् लक्ष्यते। कालिदासस्य 'मालविकाग्निमित्रम्' इत्यस्य द्वितीये अङ्के अपि प्राप्यते ईदृशं वर्णनम् यत्र चोक्तं वर्तते।[310] मरुद्गणाः पर्जन्यघोषस्य पूर्वम् उपगानं कुर्वन्ति।[311] अनेन अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकवेः सङ्गीतज्ञानमपि स्पष्टी भवति। यत्र कविनां मन्त्ररचना शब्दमाधुर्यम् आस्वादयति तत्रैव सङ्गीतमाधुरी अपि बोध्यते।

विद्युत्–

---

307 अ.शौ.सं.४/१५/१

308 अ.शौ.सं.४/१५/७

309 अ.शौ.सं.४/१५/११

310 मालविका उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति

311 अ.शौ.सं.४/१५/४

वृष्ट्या सहैव प्रकाशमाना चपला मनोऽभिरामं चित्रं प्रदर्शयति। निस्सन्देहकृष्णवर्णीयमेघान्तः तत्तच्चञ्चलक्रीडा ऋषीणां मनोविभाविनी भवति। अत एव ऋषयः पर्जन्यवत् अस्यापि विविधमयेषु रूपेषु दर्शनं करोति। तस्याः भयोत्पादकद्युतिना भयभीतः सन् ऋषिः तस्याः द्योतनादिगुणान् अपि प्रकाशयति। यथाहि-

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।

सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥[312]

तत्र पुनः सैवद्युतिः तस्याः शरत्वेन आलक्ष्यते येषामाधानं असुरेषु कृतमिति।[313] विद्युतः तीक्ष्णत्वात् शररूपेण दर्शनं स्वाभाविकमेव वर्तते। संस्कृतसाहित्ये वर्षाऋतोः वर्णनेन सहैव अस्य अभिन्नत्वं दृश्यते। वाल्मीकिना स्ववर्षावर्णने विद्युत् हेमवर्णीया कशा कथिता। यस्य ताडनेन आकशः वेदनया मेघ गर्जनात्वेन आर्तनादं करोति अथवा कृष्णमेघेषु देदीप्यमाना चपला एवं प्रतीयते यथा रावणस्य अङ्के व्याकुला वैदेही यथाहि-

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम्|

अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम्||

नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मे|

स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी || [314]

एवमेव विक्रमोर्वशीये पुरुरवा आकाशे सञ्चरणशीलमेघान्तः विद्युत् दृष्ट्वा कथयति 'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया मम नोर्वशी' इति।[315]

---

312 अ.शौ.सं.१/१३/४

313अ.शौ.सं. १/१३/४`

314 वा.रा.किष्किन्धाकाण्ड-२८/११,१२

315 विक्रमोर्वशीयम् अङ्क-४/श्लोक-१

अनेन प्रकारेण संस्कृतकविभिः सैव वैदिकीपरम्परा अग्रे नीता या वेदात् प्रवर्तमाना वर्तते। अनेन अनुमीयते यत् वैदिककवीनां संस्कृतकविभ्यः कियत् विशिष्टं अवदानं वर्तते।

द्युलोकः

सूर्यः –

पारावारीणाथर्ववेदीयशौनकशाखीयानाम् ऋषीणां दृष्टिः द्युलोकमपि अतिक्रान्ता। तत्र च सूर्यचन्द्रादिकं दृष्ट्वा तेषु चेतनप्राणीनां भावना मारब्धवन्तः तैः क्रियते। अस्य लोकस्य वस्तुषु तेषामनुरागः द्युलोकसम्बद्धवस्तुषु अपि पार्थिव भावनां विभावयितुं प्रेरयति। इदमेव कारणं यत् सूर्यः तथा चन्द्रः बालक्रीडां कुर्वन्तौ दृश्येते स्म। यथा क्रीडायां एकस्य पृष्ठे अन्यो धावति तथैव आकाशे अपि एकस्य पृष्ठे अन्यो धावन्निव लक्ष्यते यथाहि-

पूर्वापरं चरतो मययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।

विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूंरन्यो विदधज्जायसे नवः[316]

पूर्वस्यां दिशि सूर्योदयः पश्चिमस्यां दिशि चन्द्रास्तः पुनः पश्चिमस्यां दिशि सूर्यास्तः तथा विपरीतदिशि चन्द्रोदयः इमां कल्पनां सार्थकीकरोति। अन्तरिक्षे उभयोः चलनमेव एका क्रीडा वर्तते। एतेषां चलनमपि मायामयं वर्तते। वैदिककविवत् माघोऽपि सूर्यं बालकरूपेण पश्यति यः उदयाचलस्य शृङ्गरूपि अङ्गणे क्रीडन् पद्ममुखे हसन्ती पद्मिनी तथा पश्यन् स्वकोमलकिरणान् प्रसारार्थं स्वमातुः आँचले पतति।[317] अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः तथा ऋग्वेदीयशाकलसंहितायाः ऋषीणां प्रायशः एवमेव मनोरञ्जकं सूर्यदर्शनं वर्तते। क्वचित् तु सौन्दर्यानुभूतेः वर्णनं द्रष्टुं योग्यं भवति। एकस्मिन् मन्त्रे तैः सूर्यस्य किरणानां प्रज्ञापकपताकारूपेण कल्पना कृता वर्तते। अनेन प्रतीयते यत् सूर्यस्य राजरूपं तस्य मस्तिष्के विद्यमानमासीत्। यदा कस्यचित् राज्ञः गमनं भवति तदा तस्य मार्गो विविधैः वर्णैः सुशोभितो

---

[316] ७/८१/१, ऋ.१०/८५/१८

[317] शिशुपालवधम् ११/४७

भवति। अत्र रथस्य उपरि उपविष्टस्य सूर्यस्य मार्गे किरणानि एव सुशोभन्ते।[318] सूर्यस्य किरणानि लोकत्रयं आप्य तिष्ठन्ति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिः सूर्यं प्रति मुग्धो भूत्वा वदति – हे सूर्यदेव! भवन्तः द्युलोके, अन्तरिक्षलोके, पृथ्वीलोके च प्रकाशन्ते तथा जलेऽपि भवन्तः प्रकाशन्ते। भवन्तः स्वकान्त्या समुद्रद्वयमपि आप्नुवन्ति। भवन्तः स्वर्गस्य जेतारो महनीयाः देवाः सन्ति।[319] एकत्र सूर्यस्य सौन्दर्यम् उद्भासयितुम् ऋषिभिः उपर्युक्तकल्पना कृता अन्यत्र तस्य सामर्थ्यं प्रकटयितुं सः सहस्रशृङ्गरूपेण प्रदर्श्यते। यश्च समुद्रे प्रकटीभवति।[320] अत्र तस्य किरणानि केतुरूपेण न, अपितु शृङ्गरूपेण वर्तन्ते येन असुरशक्तीनां विनाशो भवति। एवं च अस्माकं सम्मुखे चित्रं प्रकटी भवति यत्र सौन्दर्यस्य स्थाने शक्तिमत्त्वमपि दृश्यते।

चन्द्रः –

सूर्यवत् चन्द्रस्यापि दर्शनम् ऋषिभिः विविधप्रकारेण कृतमस्ति। संस्कृतकाव्यपरम्परायां सूर्यापेक्षया चन्द्रस्य अत्यन्तं महत्वपूर्णं स्थानं वर्तते। श्रृङ्गाररसेन सहैव अस्य घनिष्ठसम्बन्धो वर्तते। यतोहि सः तत्र उद्दीपनविभावरूपेण प्रयुज्यते। वैदिकऋषिभिः श्रृङ्गाररसस्य उद्दीपनविभावरूपेण प्रयोगो न कृतः तथापि अस्य सौन्दर्येण सर्वेऽपि परिचिताः वेदे वर्तन्ते तस्य नूतनं रूपं दृष्ट्वा तं प्रति मुग्धः सन् तस्य स्वभावान् प्रकटीकुर्वन् वदति ऋषिः – हे चन्द्र! भवान् शुक्लपक्षस्य प्रतिपदादितिथिषु कलायाः वर्धनेन प्रतिदिनं नूतनं लक्ष्यते। भवान् तिथीनां प्रज्ञापकः तथा रात्रीणाम् अग्रणी अस्ति। भवान् देवतानां कृते हविषः विधानं करोति तथा अस्माकमायुवर्धनं च करोति।[321]

---

318 अ.शौ.सं.१३/२/१६, अ.शौ.सं.२०/४७/१३, ऋ.१/५०/१

319 अ.शौ.सं.१३/२/३

320 अ.शौ.सं.४/५/१, ऋ.७/५५/७

321 अ.शौ.सं.७/८१/२, ऋ.१०/८५/१९

"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"[322] इति सूक्त्याधारेणैव चन्द्रस्य नूतनत्वं रमणीयत्वं च निश्चीयते। संस्कृतकवयः प्रायः चन्द्रस्य आह्लादकत्वं मनसि निधाय चन्द्रविषयकोपमाः रूपकस्य च प्रयोगं कुर्वन्तः सन्ति। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविः चन्द्रं शिशुरूपेण संलक्ष्य तस्य उक्तधर्मान् बोधयति तत्रैव तस्य अन्यान् धर्मान् अपि प्रकाशयति। इमे धर्माः अन्यत्र अनुल्लिखिताः सन्ति यथाहि- तपस्, हरस्, अर्चिष् शोचिष,तेजस्,एभिः शत्रुविनाशो भवति। यथाहि-

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥४॥

चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५॥[323]

चन्द्रस्य इमे धर्माः तस्य सौन्दर्यद्योतकाः न सन्ति, अपितु तस्य उग्रतेजसः परिचायकाः वर्तन्ते। एभिरेव शत्रुविनाशः प्रतिपाद्यते। लोकेऽपि एक एव चन्द्रः कस्यचित् सुखदायकः कस्यचित् दुखदायकश्च प्रतीयते। संयोगे स एव आह्लादकारी वर्तते तथा वियोगे विरहिणां शरीरं दग्धं कर्तुमपि पारयति भर्तृजायाः तदेव मूलविषयो भवति। एवञ्च चन्द्रस्य विपरीतधर्मान् कविभिः मनसि निधाय काव्ये वर्ण्यते। अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः कविः चन्द्रम् अत्यन्तविचित्ररूपेण पश्यति। यः आकाशे प्रचलति तथा सर्वान् भूतान् प्रकाशयति।[324] इदमत्यन्तं विचित्रं चन्द्रदर्शनं वर्तते। वैतानश्रौतसूत्रं तथा च कौशिकसूत्रं कोऽपि अस्य प्रयोगस्य सार्थकतायां प्रकाशं न स्थापयति। अत्र इदं तु निःसन्दिग्धं चन्द्रमसः सौन्दर्यप्रदर्शनं कवेरभीष्टं नाऽस्ति। अन्येभ्यः प्रयोजनेभ्यः कविना चन्द्रमसः एतादृक् रूपम् आलोच्यते।

---

[322] शिशुपालवधम् ४/१७

[323] अ.शौ.सं. २/२२/१-५

[324] अ.शौ.सं. ६/८०/१

लोकातिगवस्तूनां स्वरूपदर्शनम्

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकविभिः स्वलोकानुभवाधारेण लोकातिगवस्तूनामपि स्वरूपस्य स्वभावस्य तथा वैचित्र्यादेः दर्शनं कृतमस्ति। एषु लोकातिगवस्तुषु व्रात्यानि विराड् च ग्राह्यानि सन्ति। वस्तुद्वयम् अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां प्राधान्येन तदीयत्वेन च निरुपितमस्ति। अन्येषु वेदेषु एतयोः निरूपणं न दृश्यते । अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिणा व्रात्यस्य वर्णनं सम्पूर्णे अपि पंचदशकाण्डे कृतं वर्तते तथा यावत् अस्य व्यापकस्वरूपस्य चित्रणं कृतं वर्तते तावत् प्रायशः ऋग्वेदीयशाकलसंहितायां विश्वरूपपुरुषस्यापि न प्राप्यते। विनाऽलङ्कारं कविना व्रात्यं व्यापकत्वेन निरूपितम् यस्य अनुगमनं बृहद्रथन्तरसाम तथा च आदित्यः विश्वदेवतादयः कुर्वन्ति। मातरिश्वा पवमानश्च यस्य विपथवाहौ तथा च वायुः सारथी वर्तते। वेदचतुष्टयं यस्य पृष्ठे सरति। अग्निः, आदित्यः, चन्द्रः, पवमानः, जलम्, पशुः प्रजाश्च यस्य सप्तप्राणाः सन्ति। पूर्णिमा, अष्टका, अमावस्या, श्रद्धा, दीक्षा, यक्षः, दक्षिणा यस्य अपानभूताः वर्तन्ते तथा भूमिः, अन्तरिक्षम्, द्यौः, नक्षत्रं, ऋतुः, आर्तवम्, संवत्सरं यस्य सप्तव्यानाः सन्ति। एवं सम्पूर्णे लोके व्यापको व्रात्योऽपि मनुष्यवदेव समचेष्टां कुर्वन् वर्णितोऽस्ति। सः प्रचलति, रथे उपविशति, आसन्दे उपविशति तथा अतिथिः भूत्वा गृहस्थस्य गृहं गच्छति। तस्य विग्रहोऽपि मनुष्यवदेव वर्तते परन्तु अङ्गानां वैलक्षण्यं दर्शनीयं वर्तते। तस्य दक्षिणनेत्र आदित्यो वर्तते, चन्द्रो वामनेत्रः। दक्षिणकर्णो अग्निः वामश्च पवमानो वर्तते। अहोरात्रं नासिके वर्तेते दितिः अदितिश्च शीर्षकपालौ वर्तेते तथा संवत्सरः शिरः। एवं विलक्षणो व्रात्य आर्षकल्पनाद्वारा स्थापितो वर्तते। अस्मिन् सम्पूर्णेऽपि काण्डे उपमाया अभावो दृश्यते। यतोहि अस्य व्रात्यस्य उपमानं किमपि भवितुमेव नार्हति। व्रात्यवर्णनेन अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकवीनां लोकदर्शनस्य वैशिष्ट्यं स्पष्टतया सिद्ध्यति।

व्रात्यवदेव विराड् अपि अथर्ववेदे निरूपितो लोकातिगः पदार्थो वर्तते। अष्टमेकाण्डे दशमसूक्तस्य सर्वेऽपि पर्यायाः अस्य विराटः महिमायाः वर्णनं कुर्वन्ति। अस्य विशालतायाः तथा रहस्यात्मिकतायाः ज्ञानं आरम्भमन्त्रेण एव भवति। यत्र चोक्तमस्ति – इदं जगत् पूर्वं विराट्

आसीत्। तस्य प्रकाशनेन सर्वेऽपि भयाकुलाः जाताः इदमेव जगत् वर्तमानं भविष्यति।[325] एतत्प्रकारकीयानां व्यापकवस्तूनामुपरि अपि अथर्ववेदीयकविनां दृष्टिः दृश्यते। अन्येषु वेदेषु एतादृक्वर्णनस्य अभावो लक्ष्यते। यस्य रहस्यात्मकस्य लोकस्य सूचना अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः प्रथमे मन्त्रे भवति तस्य अत्र लोकातिगवस्तूनां वर्णनेऽपि दर्शनं भवति। अस्य वैचित्र्यपूर्णलोकस्य सृष्टिः अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः ऋषिकल्पनायाः शक्तेः परिचायिका वर्तते।

---

[325] अ.शौ.सं.८/१०/१

पञ्चमोऽध्यायः

अथर्ववेदीयशौनकसंहितानुगताः लोकविश्वासाः

लोकजीवने पदे पदे पारम्परिकमान्यतानां विश्वासानां च विशिष्टा भूमिका भवति। एतेषु कथञ्चिद् परिवर्तनं परिष्करं वा अकृत्वा एव तेषां तत्स्वरूपे यथायथं स्वीकरणं कश्चिज्जनः स्वकीयं पुनीतकर्त्तव्यम् मन्यते। तस्य द्वे कारणे स्तः -

१ आस्थाशीला प्रकृतिः

२ परिवर्तनाद् भयस्य आशङ्का।

इमाः मान्यताः विश्वासांश्च आधुनिकः सभ्यसमाजः कामम् अन्धविश्वासः परम्परा वा कथयेत्, परं जनानां कृते तास्तु अद्यापि तथैव दृढविश्वासस्य आस्थायाश्च प्रतीकाः सन्ति येषु अमी स्वयं जीवन्ति। लोकविश्वासोऽयं प्रमुखे भागद्वये विभज्य द्रष्टुं शक्यते –

१ गोचरे

२ अगोचरे च।

गोचरः लोकविश्वासः

अस्याः परिधिः अत्यन्ता विस्तीर्णा विद्यते | अखिलेऽस्मिन् जगति यावन्ति अपि वस्तूनि दृष्टिपथम् आयान्ति तद्विषये स्वल्पातिस्वल्पतया प्रचलितो लोकविश्वासः दृश्यते एव। अन्तरिक्षलोके उल्कापिण्डानां सूर्यचन्द्रशनिमङ्गलसप्तर्षितारामण्डलादीनां च गणना क्रियते तथा च भूलोके अवस्थितानि वस्तूनि तात्त्विकदृष्ट्या वर्गद्वये विभज्य आलोच्यन्ते जडभूतानि वस्तूनि चेतनपरकानि वस्तूनि । जडभूतवस्तुभिः सम्बद्धाः लोकविश्वासाः गिरि-नदी-सागर-ताल- सरोवरेत्यादिभिः सम्बद्धाः सन्ति । तत्रैव जीवधारिभिः सम्बद्धाः विश्वासाः पुनश्च भागद्वये विभज्य आलोच्यन्ते -

१ पशुपक्ष्याश्रितः लोकविश्वासः

२ वनस्पत्याश्रितः लोकविश्वासः

पश्वाश्रितेषु गौः, अश्वः, हस्ती, श्वा, विडालः इत्यादीनाम्, खगाश्रितेषु काकः, चटकः, गृध्रः, गरुडः, मयूरः, कपोतः इत्यादीनाञ्च विषये नैकविधः विश्वासः जनमानसे उपलभ्यते। वनस्पत्याश्रितेषु वस्तुषु आम्रः, अश्वत्थाः, निम्बः, वटः, बिल्वः, आमलकः इत्यादीनां वनस्पतीनां नामानि अत्यन्तम् आदरपूर्वकम् अभिधीयन्ते। एवमेव लतादिविषयेषु अपि विश्वासः प्राप्यते केतकी, परिजातः, वृन्दा (तुलसी), गुडहलः इति। एतेषां सर्वेषां

पशुपक्षिवनस्पतीनां विषये नैके लोकविश्वासाः श्रूयन्ते। लोकविश्वासाः इमे यदा पृथक् रूपेण समीक्ष्यन्ते तर्हि एते अत्यधिकस्पष्टतया दृश्यन्ते।

अन्तरिक्षलोकाश्रितः लोकविश्वासः

अन्तरिक्षे नैकाः आकाशगङ्गाः पिण्डाश्च विद्यन्ते येषां विषये नैकविधाः विश्वासाः अपि प्रचलिताः सन्ति। एषु अस्माकं कृते सर्वप्रमुखः पिण्डः सूर्योऽस्ति। अयं स्वकीयपरिवारस्य प्रधानतमः सदस्योऽस्ति। इममेव परितः अन्ये सदस्याः परिभ्रमन्ति। अस्मिन् परिवारे प्रमुखतया सूर्यः, मङ्गलः, बुधः, पृथ्वी, चन्द्रः, शनि, शुक्रश्चेत्यादयः सन्ति। एतस्माद् अन्यत् अन्तरिक्षे तारामण्डलस्यापि स्थितिः विद्यमाना अस्ति। येषु ध्रुवतारकम्, सप्तर्षिमण्डलः, सप्तविंशतिनक्षत्रातिरिक्तम् अन्तरिक्षलोके विद्युन्मेघः इन्द्रधनूंषि अपि विद्यमानानि भवन्ति। उपर्युक्तनभस्य वस्तूनां विषये नैके लोकविश्वासाः सर्वसाधारणानां मानसे अवस्थिताः सन्ति, यथा सूर्यः।

1. सूर्याश्रितो लोकविश्वासः

सूर्यस्य आराधना अर्चना वा अत्यन्तं श्रद्धया भक्त्या वा क्रियते अस्मिन् संसारे। प्रत्येकः वैदिकः सनातनधर्मी जनः (हिन्दू) प्रातः स्नानं विधाय सूर्यं देवतारूपे स्वीकृत्य तम् अर्घ्यं समर्पयति। सूर्यस्य ओजसं तेजसं च कामयमानाः भारतदेशवासिनः व्यायामस्य एकम् अंशं 'सूर्यनमस्कार'रूपेण असृजन्, अस्मिन् सूर्यनमस्कारे ते सूर्यदेवतायाः पृथक् - पृथक् द्वादशनामानि उच्चार्य तेन तेन च तं सम्बोध्य नमस्कृत्य च व्यायामप्रक्रियां विदधति। एतत् एवंविधमस्ति - वैदिकसाहित्ये सूर्यस्य द्वादशरूपाणि मन्यन्ते, ये द्वादशादित्यनाम्ना अपि ज्ञायन्ते। एतेषां द्वादशानाम् अपि आदित्यानां कार्याणि पृथक्-पृथक् सन्ति, एतेषां महत्त्वम् अपि इतरेतराभ्यां पृथक्- पृथक् अस्ति। द्वादशादित्याः एवं सन्ति - इन्द्रः, धाता, पर्जन्यः, त्वष्टा, पूषा, अर्यमा, भगः, विवस्वान्, विष्णुः, अंशुमान्, वरुणः, मित्रः च।

पञ्चसु महाभूतेषु अग्नेः मूलाधारः सूर्यः मन्यते। यः जीवनस्य कृते प्रकाशं तेजसं च प्रददाति। एतदतिरिक्तं जनानां विश्वासोऽयं यत् सूर्यस्य स्तुत्या अर्चनया वा रोगाणां शमनं पुत्ररत्नस्य च प्राप्तिर्भवति। पुत्रप्राप्तये जनाः सूर्यं पूजयन्ति अर्घ्यं च प्रददति, यस्मिन् पुष्पम्, जलम्, दुग्धम्, पक्वान्नादिकं च सम्मिलितानि भवन्ति। रोगनिवारणसन्दर्भे कविवरो मयूरः संस्कृतसाहित्यजगति बहु प्रसिद्धो वर्तते, यः स्वकीयकुष्ठरोगस्य निवारणार्थं 'सूर्यशतकं' विरचितवान् जपादिद्वारा च तस्मात् दुस्सहरोगात् विनिर्मुक्तो जातः। सामान्यजनानां मानसे विश्वासोऽयं यत् सूर्यग्रहणकाले कुरुक्षेत्रसरसि स्नानेन पुण्यस्य अवाप्तिर्भवति।

2. पर्जन्याश्रितो लोकविश्वासः

वर्षाकालीनो मेघः पर्जन्यमिति उच्यते। यथापूर्वमेव उक्तं यत् प्रत्येकं वस्तुविषये नैकविधः विश्वासः जनसमुदाये प्रचलितो भवति, एवमेव मेघविषयेऽपि दृश्यते। जलदस्य वर्णविषयेऽपि जनेषु नैको विश्वासोऽस्ति। उच्यते यत् मेघानां वर्णो यदि कपिशवर्णः चेत् असौ वृष्टिं करोति, यदि च कृष्णश्चेत् असौ केवलं गर्जित्वा भाययति। मेघविषये एकोऽन्यो रोचको विश्वासो दृश्यते- जनाः प्रायशः एतत् कथयन्ति यत् सायम् आगतो मेघः अतिथिश्च न प्रत्यगच्छतः, अभिप्रायोऽयं यत् मेघः रात्रौ वर्षत्येव अतिथिश्च रात्रिपर्यन्तं तिष्ठत्येव। चिरकालाद् वृष्ट्यभावे यदा अत्यधिकी उष्णता जायते तदा ग्रामीणाः धरातले एव शयित्वा मेघं वृष्टिं याचन्ते। तेषाम् अयं विश्वासो भवति यत् एवं प्रार्थिते सति मेघो जलम् अवश्यम् एव वर्षयिष्यति। वृष्ट्यर्थं केचन् जनाः यज्ञीयप्रक्रियां स्वीकुर्वन्ति, तेषां विश्वासोऽयं यत् वैदिकर्चाभिः स्तवनेन यज्ञस्य औषधीयसामग्रीणां च सहयोगेन देवः प्रसन्नो भूत्वा जलवृष्टिम् अवश्यमेव करोति।

वैदिकसाहित्ये पर्जन्यविषयकानि नैकानि सूक्तानि उल्लिखितानि सन्ति। मेघानां गर्जनं, सौदामिन्याः प्रकाशनं, जलस्य वर्षणं, वृक्ष-वनस्पतीनां सचेतनं, अतिवृष्टेः अनावृष्टेश्च विश्वासः

नैकेषु सूक्तेषु उपलभ्यते। यजुर्वेदीयराष्ट्रियप्रार्थनायाम् 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो'[326] इत्यस्मिन् मन्त्रे पर्जन्यस्य यथाकालवर्षणं, वृक्षवनस्पतीनां फलसम्पन्नत्वम्, प्रजानां च योगक्षेमप्रापणस्य विश्वासः अत्यन्तदृढरूपेण प्राप्यते। कृषि-वृक्ष-वनस्पतीनाम् अन्नस्य च समृद्धये योगक्षेमस्य च कृते पर्जन्यदेवस्य कृपा अत्यावश्यकी। पर्जन्यं न केवलं वनस्पतीनाम् अपितु प्राणिजगत् अपि लाभं प्रापयति, सस्यं प्रददाति, नदी-कूप-तडागादीन् प्रपूरयति, कृषिं च समुन्नतं करोति। मरुद्देवः पर्जन्यस्य सहायकोऽस्ति, असौ पर्जन्यं यथास्थानं गमयति वृष्टिं च कारयति। एवम् अयं पर्जन्यदेवो मानवसृष्ट्यर्थं प्राणिसृष्ट्यर्थं च लाभप्रदोऽस्ति।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां पर्जन्यं मेघं च प्रति समर्पितम् एकं सम्पूर्णसूक्तमपि उपलभ्यते। यत्र मेघस्य विषये नानाविधो विश्वासो दृश्यते। एकया ऋचया अथर्ववेदीयजनानां विश्वासः प्रकाश्यते अस्याम् ऋचायां ते आशां कुर्वन्ति यत् वायुः तीव्रगत्या प्रवाहितः स्यात् येन परितो मेघ आगत्य तीव्रगर्जनापूर्वं च वृष्टिं कारयेत्।[327] अग्रिमायाम् ऋचायाम् उक्तं यत् मेघाः अत्यधिकं शक्तिशालिनो भवन्ति, एते जलस्य दातारः सन्ति।[328]

एवम् एव मेघस्य विषये उक्तं यत् स एवं गर्जेत् विद्युच्च प्रकाशयेत् यत् अब्धिः उद्गच्छेत्, यदा च वृष्टिं करोति तदा क्षेत्रे कृषिं कुर्वाणाः कृषकाः स्वकीयक्षेत्रात् बहिरागत्य गृहं गच्छेयुः।[329] अन्यस्याम् ऋचायाम् एकस्यां मेघस्य विद्युतश्च उत्पत्तिविषये विश्वासः प्राप्यते - अत्र उक्तं यत् सूर्यस्य उष्णतावशात् सागरस्य जलं वाष्पत्वेन परिवर्तेत् , तान् वाष्पान् वायुः उपरि नयेत्,

---

[326] आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ यजुः २२/२२

[327] अ.शौ.सं.४/१५/१

[328] अ.शौ.सं.४/१५/२

[329] अ.शौ.सं.४/१५/६

तत्र उपर्याकाशे परस्परं सङ्गत्य अमी वाष्पाः मेघाः भवेयुः, ततश्च ते मेघाः तडिद्गर्जनं कुर्वन्तः पृथ्व्याः तृप्तिकारिणीं वृष्टिं कुर्युः।[330] एवं मेघविषये अन्यद् एको विश्वासोऽस्ति यत् जलस्य वृष्टिकारिणो मेघाः अस्माकं पालकाः पितरश्च सन्ति, एते शुचिजलधारिणो सन्ति। जलैः पूरिताः मेघाः नभसि गर्जनां कुर्वन्तः प्रचलन्ति। मेघान् प्रति याच्ञा कृताऽस्ति यत् ते पृथ्वीं जलैः पूरयेयुः, येन नानावर्णाः मण्डूकाः भूमौ आगत्य शब्दं कुर्युः।[331] मेघस्य मण्डूकस्य च विषये एको विश्वासो बहु प्रसिद्धो वर्तते। अनयोर्विषये ऋचायाम् एकस्यां प्राप्यते वर्णनं, यस्मिन् मण्डूकानाम् उपमा व्रतधारिभिः ब्राह्मणैः साकं कृताऽस्ति। यथा ब्राह्मणः वर्षं यावत् व्रतं विधाय पश्चात् प्रवचनकाले उपदेशं प्रवचनं वा करोति, तथैव मण्डूकाः अपि पर्जन्यप्रेरिता वाचः उच्चारयन्ति[332], मण्डूकानां मेघानां च विश्वासपरकाः अन्येऽपि मन्त्राः उपलभ्यन्ते येषु एको मण्डूको लघुकायिकी मण्डूकी च प्रार्थ्येते यत् भवन्तौ स्वकीयया गिरा मेघम् आह्वय येन सरोवरादीनि जलैः प्रपूरितानि स्युः भवन्तश्च सर्वे स्वच्छन्दं विचरेयुः[333] जनानां विश्वासः आसीत् यत् मण्डूकानाम् आह्वानेन मेघाः आगच्छन्ति वर्षन्ति च। अतैव एकस्याम् अन्यस्याम् ऋचि अपि एतादृक् एव विश्वासो दृश्यते यस्मिन् उक्तमस्ति - "शान्तप्रकृत्या बिले निवसन्तः अयं लघुमण्डूकाः यूयं मनसा वायुं कामयध्वम् येन असौ वायुः वृष्टिवतो मेघान् आनयिष्यति यूयं च आनन्देन स्थातुं शक्ष्यत।[334]

यथा पूर्वम् एव उक्तं यत् एतत् सम्पूर्णं सूक्तं तदाश्रितमेव। अत एव अखिलसूक्ते अस्मिन् मेघं विद्युच्च प्रति नैके विश्वासाः प्राप्यन्ते। केषुचिद् अन्येषु ऋक्षु याच्ञा अस्ति यत् प्रत्येकस्यां

---

330 अ.शौ.सं.४/१५/५

331 अ.शौ.सं.४/१५/१२

332 अ.शौ.सं.४/१५/१३

333 अ.शौ.सं.४/१५/१४

334 अ.शौ.सं.४/१५/१५

दिशि तडित् दिव्येत्, वायोर्प्रवाहः तीव्रः स्यात्, एभिश्च वायुभिः आनीत् मेघाः पर्याप्तं वृष्टिं कुर्युः[335] अपि च एभ्यो रक्षायै अपि प्रार्थना कृता विद्यते, उक्तं यत् मेघः, विद्युत्, वृष्टिः, जलं, जलस्थानं च इत्येतानि सर्वाणि मनुष्यान् रक्षेयुः।[336] तडित् मेघान्तर्वर्तिनी अस्ति इति उक्तम् अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाम् अयम् एव वृष्टिं करोति, अयमेव ओषधीनाम् अधिपतिः अस्ति। एवं मेघो विद्युच्च सर्वान् रक्षतः।[337] मेघस्य विद्युतश्च विषये एकोऽन्योऽपि विश्वासः अस्ति यत् प्रजापतिः समुद्रं गतिं प्रददाति, येन मेघाः उत्पद्यन्ते, अनेन च पृथ्वीतले पर्याप्तं वृष्टिर्जायते। अस्मादेव जनाः एतान् स्वसमीपम् आह्वयन्ति।[338] एतद्विषये उक्तमस्ति यत् जलवर्षकाः मेघाः नः पालकाः सन्ति। अयं मेघः विद्युच्च ओषधीनाम् अन्नानां च उत्पादकौ स्तः प्रभूतजलानां च निधयः सन्ति। आकाशः स्वौदामिन्या युक्तो स्यात्, वायुः प्रवहमानो भवेत् येन सर्वे श्रेष्ठकर्म कुर्वाणाः सानन्दं विचरेयुः।[339]

चन्द्रः –

वेदेषु अयं 'सोम' इत्यभिहितः। कृष्णपक्षे अमावस्यादिवसे क्षयानन्तरम् अयं पुनर्जन्म गृह्णाति, अत एव अयं 'द्विजः' इत्यपि उच्यते। वेदेषु सोमः (चन्द्रमाः) ब्राह्मणानां राजा अर्थात् 'द्विजराजोऽपि कथ्यते। सूर्यस्य स्वभावो ज्वलनशीलो यत्र तत्रैव चन्द्रमसः प्रकृतिः शीतलता अस्ति, अथ च अयं शान्तिं प्रददाति।

335अ.शौ.सं. ४/१५/८

336 अ.शौ.सं.४/१५/९

337 अ.शौ.सं.४/१५/१०

338अ.शौ.सं. ४/१५/११

339 अ.शौ.सं.४/१५/१६

जनानां दृढ़ा धारणा इयं यत् चन्द्रमध्ये यः कालिमा विद्यते स शशकचिह्नम्, एतस्मादेव चन्द्रः 'शशाङ्कः' इत्यपि नाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति। साधारण जनानां विश्वासोऽयं यत् चन्द्रः पुराकाले पृथिव्याम् आसीत्, एकदा काचिद् वृद्धा तं मुसलेन प्राहरत्, तस्मात् असौ नभः प्रति जगाम। एवं मन्यते यत् चन्द्रग्रहणकाले राहुः चन्द्रं ग्रस्यति एतस्माद् कारणात् अस्माद् राहोः चन्द्रस्य मुक्तये जनाः पूजाम् अर्चनां च कुर्वन्ति। चन्द्रग्रहणकाले काश्यां गङ्गास्नानं अत्यन्तं पुण्यकार्यं मन्यते. अस्मिन्नवसरे दानस्य अधिकं महत्त्वं वर्तते।

लोकसाहित्ये चन्द्रसम्बद्धाः नैके लोककथाः प्रसिद्धाः सन्ति। चन्द्रमाः बालकानां शिशूनां वा कृते मातुलोऽस्ति, अत एव भोजपुरीमातरः स्वशिशुं प्रति 'चन्द्रमातुलः' इत्युक्त्वा तस्य सम्बन्धे वा गीतं प्रगीय निद्रादेवीम् आह्वयन्ति।

अस्य विषये कयाचिद् चलचित्रगायिकया गीयमानत्वात् एतत् गीतं (लोरी) बहु लोकप्रियं प्रसिद्धश्चास्ति - "चन्दा मामा आरे आव। नदिया किनारे आव, सोना के कटोरिया में दूध-भात ले ले आव, बबुआ के मुँहवा में घुटुक।" सूर्यस्य इव चन्द्रमसोऽपि पूजा क्रियते। अश्विनकृष्णस्य चतुर्थीतिथौ 'करवाचौथ'स्य व्रतं क्रियते, अस्मिन् दिवसे स्त्रियः आदिवसं उपवासं विधाय रात्रौ चन्द्रस्योदये सति तस्मै अर्घ्यं प्रदाय व्रतस्य समाप्तिं मन्यन्ते। विवाहादिशुभावसरे चन्द्रः सोमवासरस्य अधिष्ठाता देवता अस्ति। एतद्दिनम् अत्यन्तं पवित्रं वर्तते। काशीवासिनः केचिद् जनाः सोमवासरं विश्वनाथस्य अर्थात् शिवस्य दर्शनस्य शुभदिवसं मन्यन्ते। सोमवती - अमावस्यादिवसे कस्याञ्चित् पवित्रनदौ स्नानं पुण्यकारकम् अस्ति। अस्मिन् दिवसे गङ्गादिनदीषु स्नानं कृत्वा स्त्रियः अश्वत्थवृक्षस्य (पीपल) अत्यन्तश्रद्धया पूजां कुर्वन्ति। केषाञ्चिद् जनानां विश्वासोऽयं यत् सोमवासरे पूर्वदिशां प्रति यात्रा नैव कर्तव्या, यतोहि इयम् अमङ्गलकारिका भवति।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां चन्द्रस्य उत्पत्तिविषये विश्वासोऽस्ति यत् अपाम् उत्पत्तिः समुद्रात् अभूदिति तथा च आसां निवासः द्वयोः लोकयोः अस्ति।[340] चन्द्रमसो विषये अन्यत् एको विश्वासोऽस्ति यत् दिशो गावः सन्ति चन्द्रमाश्च तासां वत्सः।[341] अस्मादेव दिक्षु चन्द्रमाः प्रणम्यते।[342] चन्द्रमसो महिमा समुद्रे भूमौ उभयोरपि स्थाने प्रकृष्टतया व्याप्तो वर्तते[343] चन्द्रमाः अपि मनसे बलार्थं च प्रार्थितोऽस्ति।[344] 'सोमः' इत्यपि अस्यैव नाम। सोमविषयेऽपि वेदे नैके विश्वासाः अवलोक्यन्ते।

सोमः अर्थात् चन्द्रः मां सर्वपापेभ्यः पृथक् कुर्यात्।[345] अयं वनस्पतीनां स्वामी वर्तते, अयं मां पातु।[346] सोमेन पृथ्व्याः वृद्धिर्जायते।[347] सोमोऽस्माकं हृदयस्य कृते सुखकारको स्यात्।[348] सोमस्य विषये अयमपि विश्वासः आसीत् यत् अयं सूर्यपेक्षया अल्पशक्तिमान् अस्ति।[349] चन्द्रमसः प्रमुखं विशेषताद्वयमस्ति अमावस्या पूर्णिमा च। अमावस्या तस्य पूर्णं रूपं द्योतयति अथ च पूर्णिमा तस्य पूर्णप्रकाशमयं स्वरूपं संलक्षयति। अमावस्याविषये धारणा इयं

---

340 अ.शौ.सं.१६/८०/३

341 अ.शौ.सं.४/३९/८

342 अ.शौ.सं.४/३९/७

343 अ.शौ.सं.६/८०/३

344 अ.शौ.सं.१९/४३/४

345 अ.शौ.सं.११/६/७

346 अ.शौ.सं.५/२४/६

347 अ.शौ.सं.१४/१/२

348 अ.शौ.सं.२०/४/३

349 अ.शौ.सं.१४/१/२

यत् अयं पवित्रात्मनां देवानां च आश्रयस्थलं वर्तते[350] अयं देवानां च अमृतम् अपि रक्षति।[351] अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाम् अमावस्या देवीरूपे स्वीकृता वर्तते।[352] अस्याः गुणविषये उक्तम् अस्ति यत् असौ सर्वेषां कर्माणि जानाति[353] तथा च अस्याः रात्री प्रभूतधनस्य दात्री अस्ति। अस्मादेव एतादृशो भाग्यप्रदादेव्याः आह्वानं भवति।[354] एवमेव पूर्णिमाविषयेऽपि दृश्यते, इयम् अपि देवीरूपे मन्यमाना स्तुतिपूर्वकम् आहूयते।[355] इयं प्राच्यां प्रतीच्यां च दिशि तथा च अन्तरिक्षस्य मध्ये स्वकीयविजयस्य प्रकाशस्य च पूर्णावस्थां प्राप्य संस्थिता भवति।[356] चन्द्रः एव ऋतुनां जनको वर्तते[357] अयमेवदीर्घायुः प्रददाति।[358] एतादृक् अनेके विश्वासाः चन्द्रविषये अथर्ववेदीयशौनकशाखायां दृश्यते।

वायुः -

वायुः मरुत् इत्युच्यते। अयं वृष्टिदेवोऽपि कथ्यते। वेदेषु मरुद्देवानां विषये अनेके विश्वासाः दरीदृश्यन्ते। अस्य विषये विश्वासोऽयं यत् अयं वीरयोद्धा वीरसैनिकश्चेव सदैव शस्त्रास्त्रैः सज्जो भवति। अयम् इन्द्रस्य मित्रं सहायकश्च अस्ति। अयं रुद्रतनयोऽस्ति। अयं स्वर्णाभूषणैः अलङ्कृतो भवति। अस्य स्वकीया सेना या अतिशक्तिशालिनी अस्ति। झञ्झावातादिकाः अस्यैव उग्ररूपाणि सन्ति। अयं सदैव विजयी भवति।

---

350 अ.शौ.सं.७/७९/२

351 अ.शौ.सं.७/४७/२

352 अ.शौ.सं.७/७९/२

353 अ.शौ.सं.७/७४/१

354 अ.शौ.सं.७/७९/३

355 अ.शौ.सं.७/४८/१

356 अ.शौ.सं.७/८०/१

357 अ.शौ.सं.१४/१/२३

358 अ.शौ.सं.७/८१/२

वेदेषु मरुद्देवानां वैज्ञानिकं स्वरूपम् अपि वर्णितम् अस्ति। अयं सप्तविधोऽस्ति। यजुर्वेदे एतत्कार्यानुरूपं नवचत्वारिंशत् नामानि अभिहितानि सन्ति, यथा - शुक्रज्योतिः, चित्रज्योतिः, सत्यज्योतिः, ज्योतिष्मान्, उग्रः, भीमः, ध्वान्तः, विक्षिपः, इत्यादीनि।[359] ऋग्वेदे अस्य जनिविषये विश्वासोऽस्ति यत् अस्य जन्म तेजोमयविद्युन्माध्यमेन जातम् अस्ति। अस्माद् एव अस्मिन् विद्युत् जन्मना एव सिद्धा वर्तते।[360]

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां विश्वासोऽयं यत् जले वायुः प्रविष्टो विद्यते। अयं सूर्यरश्मि अपि वर्तते।[361] अस्य शक्ति विषये विश्वासोऽयं यत् अयं सुदृढं वस्तु अपि भेदयति उपरि उद्वाह्य नयति, स्वमित्राणि च दुर्गमस्थलानि गमयति।[362] एकस्याम् अन्यस्याम् ऋचि उक्तं यत् यथा सूर्यः स्वशत्रुं तापयति तथैव अयम् अपि। अपि च तस्मात् वायोः स्वस्य रक्षा अपि कामिता अस्ति।[363] निवसन्तं वायुं प्रति प्रार्थ्यते यत् कश्चिद् अपि दुष्टो यदि अस्माकं मनसा नाशं कामयते चेत् भवान् तं पासैः बद्ध्वा नाशयतु तापेन वा भस्मसात् कृत्य प्राणैः वियुक्तं करोतु।[364] एकोऽन्यो विश्वासः प्राप्यते यत् वायुः वर्षपर्यन्तं अस्माभिः सहैव निवसति।[365] अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाः चतुर्थकाण्डस्य सप्तविंशसूक्ते वायुविषये विस्तरेण वर्णनं विहितम् अस्ति। अत्र तद्विषये एवं विश्वासोऽस्ति यत् मनुदेवः समुद्रः वाष्पजलं नयति पुनश्च आकाशात् पृथ्वीतले वर्षयति।[366] अस्य विषये विश्वासोऽयं यत् अयं गोर्दुग्धस्य ओषधीनां च रसस्य पोषको

---

359 यजु. १७/८०-८५, ३९/३७

360 ऋ.१/२३/१२

361 अ.शौ.सं.१०/८/४०

362 अ.शौ.सं.२०/७०/१

363 अ.शौ.सं.७/७७/१

364 अ.शौ.सं.७/७७/२

365 अ.शौ.सं.७/७७/३

366 अ.शौ.सं.४/२७/४

वर्तते।[367] अयं ओषधीषु रसम् अपि भरति।[368] अस्य विश्वासो यत् अयमेव आश्रयदाता अस्ति।[369] अस्मिन् तादृशी शक्तिः भवति या जनान् उन्नयति, अत प्रार्थ्यते स येन असौ जनान् उन्नयेत्।[370] आकाशीयजलं पुत्रः इत्युच्यते सूर्यश्च तेजस्वी इति। स अस्मभ्यं सुखं दद्यात् बालकानां च कल्याणं कुर्यात् इत्यपि प्रार्थ्यते सः।[371] वायुविषये एकोऽन्योऽपि विश्वासो लभ्यते यस्मिन् अन्तरिक्षं गौरूपेण वायुश्च वत्सरूपेण वर्णितौ विद्येते। तत्र उक्तम् अस्ति यत् अन्तरिक्षरूपी गौः वायुरूपी च वत्सः अस्मभ्यम् अन्नं बलं च प्रदद्याताम्।[372] वायोः दैनिकजीवनेन सम्बद्धोऽपि विश्वासः प्राप्यते, यस्मिन् सः नैकविधजीवनोपयोगिभ्यो वस्तुभ्यो याच्यते। यथा प्राणवायुः शक्तिं प्रापयेत् अपानवायुश्च अस्माकं रोगान् दूरीकुरु। अयं द्विविधोऽपि वायुः अस्माकं शरीरे सर्वदा संचरसि।[373] वायुः मह्यं प्राणशक्तिं वितरतु[374] तथा च अपरेभ्यो मङ्गलकामना अस्ति यत् वायुः युष्माकं हृदयानां कृते सुखदो भूत्वा वहेत्।[375] वायुसूर्यविषये विश्वासोऽस्ति यत् एतौ उभावपि वायुसूर्यौ सजीवौ स्तः। जगति सर्वत्र व्याप्तौ स्तः, जगच्च रक्षतः।[376] एतौ उभौ अन्तरिक्षे

---

367 अ.शौ.सं.४/२७/३

368 अ.शौ.सं.४/२७/२

369 अ.शौ.सं.४/२७/५

370 अ.शौ.सं.६/१३०/४

371 अ.शौ.सं.१/२६/३,४

372 अ.शौ.सं.४/३९/४

373 अ.शौ.सं.४/१३/२

374 अ.शौ.सं.१९/४३/२

375 अ.शौ.सं.८/२/१४

376 अ.शौ.सं.४/२५/१

मेघमण्डलं धारयतः।[377] एतौ प्रार्थ्येते यत् एतौ यजमानेभ्यो नैरोग्यं तेजसं च प्रदत्तां[378] यतोहि एतौ उभौ पोषणशक्तिं बलं च वितरतः।[379]

पृथ्वीसम्बद्धो लोकविश्वासः

वेदेषु पृथ्वी मातृरूपेण प्रस्तुताऽस्ति। अतः तस्याः स्तुतेः पूजायाः प्रार्थनया अपि विधानं प्राप्यते। अथर्ववेदीयं शौनकशाखीयं पृथ्वीसूक्तं पृथ्वीमहिमा-गायकम् अद्वितीयं सूक्तं वर्तते। इदं सूक्तं व्यज्ञापयत् यत् पृथ्वी इयं माता तथा च संसारस्य समग्रमनुष्याः तस्या पुत्राः सन्ति। अस्य पृथ्वीसूक्तस्य अत्यन्तं प्रसिद्धा सूक्तिः अद्यापि चतुर्दिक्षु कर्णेषु गुञ्जिता भवति, इयं वैदिक ऋषिणां महामन्त्रोऽपि वक्तुं शक्यते - **“ माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः”** इति। वैदिककालादेव भूमिं **‘मातरं’** मत्वा तस्याः पूजार्चनादिकस्य करणं अस्माकं प्राचीना संस्कृतिरस्ति। अद्यापि धार्मिकजनाः प्रातः उत्थाय पृथ्व्यां पादस्पर्शात् पूर्वं “पादस्पर्शं क्षमस्व मे” इति वाक्यम् उच्चार्य भूमिं प्रति क्षमां याचनां च कृत्वा एव स्वपादौ पृथ्व्यां स्थापयन्ति। एवमेव लोकविश्वासकारणात् जनाः कृषिकार्यस्य आरम्भात् पूर्वं प्रतिवर्षं क्षेत्रकर्षणस्य प्रथमदिवसे अधिकान्नोत्पादनाय पृथ्वीं याचन्ते। बहुषु अपि प्रदेशेषु इदम् अपि दृश्यते यत् गोः महिष्याः वा दुग्धदोहनकाले तस्य प्रथमा पञ्चधाराः पृथ्व्यां पात्यन्ते। एवमेव यदा दुग्धेन सह ओषधिः सेव्यते तदा अपि द्वित्राणि बिन्दूनि भूमौ मुच्यन्ते। भारतदेशस्य विभिन्नक्षेत्रेषु पृथ्वीमातुः सम्बद्धे अद्यापि नैके विश्वासाः दृग्गोचराः जायन्ते - विवाहात् एकस्य द्वयोः वा दिनस्य प्राक् गृहस्त्रियः मृत्तिकापूजनाय खनित्वा मृत्तिकां आनयन्ति यद् **‘मटमंगरा’**दिशब्दैः अभिधीयते। अस्मिन्

---

377 अ.शौ.सं.४/२५/२

378 अ.शौ.सं.४/२५/५

379 अ.शौ.सं.४/२५/४

संसारे भिन्न-भिन्नस्थानेषु निवसतां जनानां एकस्यैव वस्तुनो विषये भिन्नभिन्नविश्वासाः दृश्यन्ते। भारतीयजनमानसे 'भूमिशयनस्य' विश्वासः दृश्यते, यस्मिन् यदा कश्चित् जनः मृत्युम् अवाप्नोति तदा स एकवारं भूमौ शाय्यते। तद्विधाने विश्वासोऽयं भवति यत् अधुना अयं स्वमातुः क्रोडे अचिराय सुप्तो जातः। इयं प्रक्रिया 'भूमिशयन'सञ्ज्ञया अभिधीयते। भारतीयजनसमुदाये चरणरजसो विश्वासो बहु सशक्तोऽस्ति, एवं तु पृथ्वी मातृरूपेण मन्यते एव, परं यस्यां भूमौ महापुरूषाणां, मातापितॄणां, गुरूणां च चरणस्पर्शो जायते तत् क्षेत्रं पवित्रं जायते। तथा च महापुरूषाणां चरणैः स्पृष्टां धूलिं पवित्रां मत्वा शिरसि धारणं सौभाग्यस्य मङ्गलस्य वा सूचकं मन्यते। बहवो गुरुभक्ताः चरणरजं जले मिश्रीकृत्य स्वगृहेषु मार्जयन्ति येन तेषां गृहाणि पवित्राणि स्युः। एवमेव बहुषु स्थानेषु दृश्यते यत् दुष्टदृष्टिः नपतेत् एतदर्थं मातरः स्वकीयरजस्य उपयोगं कृष्णचिह्नरूपेण (काला टीका) कुर्वन्ति। यदा काचिद् माता स्वकीयं सुतं नीत्वा गृहाद् बहिर्गच्छति यदि च विस्मरणवशात् सा 'कृष्णचिह्नं' न कृतम् तदा सा स्वशिशुं दुष्टदर्शनाद् रक्षणाय स्वस्यैव चरणरजस्य उपयोगं करोति। भारतस्य काश्चित् जातयः पृथ्वीं देवतारूपेण पूजयन्ति। विपत्तिकाले च तां प्रार्थनां याचनां चापि कुर्वन्ति।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां पृथ्वीं प्रति विश्वासो महिमा च मुक्तकण्ठेन गीतो विद्यते। अस्याः विषये नानाविधो विश्वासः प्रकटितः यः निम्नलिखितोऽस्ति – ऋचया एकया पृथ्वीविषये ऋषिः नैकान् विश्वासान् प्रकटयति –मातृभूमिरेव अस्माकं स्वर्गोऽस्ति, सा एव अन्तरिक्षं, सैव मातापितरौ, सैव अस्माकं सर्वदेवः उत्पादिका, सैव भूतं भविष्यश्चापि। अर्थात् पृथ्वी अस्माकं सर्वस्वम् अस्ति।[380] एकस्य अन्यस्य विश्वासानुसारं पृथ्वीं परितोऽग्निः प्रसृतोऽस्ति तथा च पृथ्वी तेन आवृत्ता विद्यते। अग्नेः विस्तारः एतावान् अधिको यत् वनस्पतौ

380 अ.शौ.सं.७/६/१

अपि अग्निः समाहितोऽस्ति[381] इयं पृथ्वी लोकस्य हिताय एव अग्निं धारयति।[382] अन्नस्य सन्दर्भे प्रस्तुतायाम् एकस्यां सूक्तौ पृथ्व्याः विभिन्नवस्तूनि अन्नस्य शरीराणि सन्तीति विश्वासो दर्शितः, पृथ्वीं द्युलोकं च अन्नस्य कर्णौ इत्युक्तौ। अथ च पृथ्व्यां प्राप्तानां धातूनां विषये उक्तं यत् कृष्णलौहः मांसोऽस्ति रक्तलौहः अस्याः रक्तं, एवञ्च टीन् अस्याः भस्म अस्ति।[383] एवमेव एकोऽन्यो विश्वासोऽस्ति यत् पृथ्वी सदैव तेजस्विनः एव वृणुते पापिनो नैव ।[384] एवमेव एकोऽन्यो विश्वासः इमां स्वर्णभण्डारमपि वक्ति।[385] एकोऽन्यो विश्वासः अस्यां पृथ्व्यां वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद्-हेमन्त-शिशिरर्तून् दर्शयति।[386] अस्याः पर्वतविषयेऽपि विश्वासो प्राप्यते यत् पर्वतोऽपि भोज्यपदार्थानां भण्डारो भवति[387] एष एव मनुष्याणां पशूनां च पालनं करोति।[388] यतोहि इयं पृथ्वी इन्द्रेण रक्षिता अस्ति[389] अस्मादेव इन्द्रोऽपि तस्याः रक्षां सावधानतया अनवरतं करोति।[390] अस्यामेव वर्तमानः भूतं भविष्यञ्च समाहितानि सन्ति।[391] अस्याः एव उपरि विशालो हिमयुक्तो गिरिः वनञ्च अवस्थिते स्तः।[392] एतत्पृथ्वीविषये एको

---

381 अ.शौ.सं.१२/१/१९,२१

382 अ.शौ.सं.१२/१/६

383 अ.शौ.सं.११/३/२,७,८

384 अ.शौ.सं.१२/१/३७

385 अ.शौ.सं.१२/१/२६

386 अ.शौ.सं.१२/१/३६

387 अ.शौ.सं.२०/९/२

388 अ.शौ.सं.१२/१/१५

389 अ.शौ.सं.१२/१/११

390 अ.शौ.सं.१२/१/१८

391 अ.शौ.सं.१३/१/५४

392 अ.शौ.सं.१२/१/११

विश्वासोऽयमपि यत् इयम् अचञ्चला अस्थिरा चास्ति गौरिव। यथा गौः स्थिरा सती दुग्धं प्रददाति, तथैव इयं पृथ्वी स्थिरा सती द्रविणं यच्छति।[393] इयं पृथ्वी नानाविधानां धातूनां भण्डारोऽस्ति[394] अत एव इयं 'कामधेनुः' इत्यपि उच्यते।[395] अस्याः प्रेमविषये नैके विश्वासाः सन्ति। एकतो यत्र इयं मातारूपेण सम्बोधिता[396] तत्रैव याचिता यत् इयं अस्मासु तथैव प्रेम कुर्यात् यथा पिता स्वकीयं पुत्रं करोति।[397] अन्ये मनुष्याः अपि अपेक्ष्यन्ते यत् सर्वे परस्परं प्रेमभावेन बद्धाः स्युः।[398]

अस्यां भूमौ यदि मनुष्याः जीवन्ति चेत् तेषां ज्ञानस्य अन्नस्य च आवश्यकता अवश्यमेव भविष्यति। एतद् विना कश्चिदपि जीवितो न शक्ष्यति।[399] एकस्य विश्वासस्य अनुसारेण इयं उदार दानिनी चेतना इति मन्यते।[400] अस्याः विषये एको विश्वासः अयमपि प्राप्यते यत् अस्याः मध्ये विशालम् अन्तरिक्षं विद्यते।[401] एवमेव पृथ्वीविषये नानाविधः विश्वासाः उपलभ्यन्ते। इमां प्रति मनुष्यैः नैकविधाः याचनाः कामनाः वा कृतास्ति याः अधस्तात् सन्ति –पृथ्वी एतादृशः शतशः धाराः प्रवाहयेत् यासु बहुनि ऐश्वर्याणि स्युः।[402] इमां प्रति आधिदैविकः,

---

393 अ.शौ.सं.१२/१/४५

394 अ.शौ.सं.१२/१/४४

395 अ.शौ.सं.१२/१/६१

396 अ.शौ.सं.१२/१/१२,६३

397 अ.शौ.सं.१२/३/१२

398 अ.शौ.सं.१२/१/२

399 अ.शौ.सं.१२/१/२२

400 अ.शौ.सं.४/२६/१

401 अ.शौ.सं.७/६/४

402 अ.शौ.सं.१२/१/४५

आधिभौतिकः, आध्यात्मिकः इति त्रिविधसुखानां कृते याचना कृता अस्ति।[403] स्वस्य रक्षायाः कामना अपि एकया ऋचया कृता वर्तते, उक्तश्च तस्याम् – अये! विश्ववर्णनीये मातृभूमिः त्वं मां पाहि।[404] रक्षणस्य अतिरिक्तम् अन्याः अपि कामनाः सन्ति याः निम्नाः सन्ति –इयं पृथ्वी अस्मभ्यं समग्रभोग्यवस्तूनि तथैव प्रददातु यथा काचित् माता पुत्राय यच्छति।[405] इयम् अस्मान् दीर्घायुषः कुर्यात् प्राणशक्तिं च भरेत्।[406] इयं भूमिः अस्माकं राष्ट्राय बलम् ओजसं तेजसं च दद्यात् स्वर्णसदृशं च कान्तिमयं विदध्यात्।[407] इयं प्रार्थिता यत् पृथ्वी इयं सुखदनिष्कण्टकनिवासस्य प्रदायिकी भवेत्।[408] अस्याः पृथ्व्याः विषये अन्येऽपि विश्वासाः प्राप्यन्ते येषु मनुष्यः स्वकीयकर्त्तव्यं प्रति विश्वासं प्रकटयति। स वक्ति –अये अन्वेषणीये पृथ्वी! तव कोमलहृदयं वयं न प्रहरेम।[409] यत्र मनुष्यः स्वकर्त्तव्यं प्रति सजगो दृश्यते तत्रैव असौ पृथ्वीं आशास्ते यत् वयं संसारेऽस्मिन् क्वचिदपि निवसाम, अस्माकं पतनं कदापि न भवेत्,[410] कश्चिद् अपि अस्मान् न द्विष्यात्[411] शत्रुः नः समीपे न आगच्छेत्।[412] एवमेव नैकासाम् ऋचां माध्यमेन पृथ्व्याः नानाविधानां क्रियाकलापानां घटितघटनानां च विस्तृतं वर्णनं प्राप्यते।

---

403 अ.शौ.सं.७/६/४

404 अ.शौ.सं.१२/३/११

405 अ.शौ.सं.१२/१/३,७,९,१०

406 अ.शौ.सं.१२/१/२२

407 अ.शौ.सं.१२/१/८,१८

408 अ.शौ.सं.१८/२/१९

409 अ.शौ.सं.१२/१/३५

410 अ.शौ.सं.१२/१/३१

411 अ.शौ.सं.१२/१/१८

412 अ.शौ.सं.१२/१/३२

अस्यां भूमौ क्रियाशीलाः मनुष्याः नृत्यं गानं मृदङ्गवादनं कोलाहलं युद्धं चापि कुर्वन्ति[413] अस्यामेव भूमौ देवाः असुरान् पराजिग्युः, अत्रैव अस्माकं पूर्वजैः पराक्रमः चक्रे[414] अत्रैव पथप्रदर्शकैः ऋषिभिः मन्त्राः अगीयन्त[415] अत्रैव देवनिर्मितं नगरमासीत्।[416] अत्रैव विश्वकर्मा यज्ञं व्यदधौ[417] अस्यामेव भूमौ जनेषु उच्चावचं सद्भावश्च दृश्यते।[418] अत्रैव पञ्चविधाः मनुष्याः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः दस्युश्च निवसन्ति अत्रैव यवगोधूमादीनि अन्नानि जायन्ते।[419] अत्रैव जलान्तर्गतो अग्निः वडवानलः प्राप्यते[420] पृथ्वी इयं सजीवान् चरप्राणिनश्चापि धारयति।[421] अत्र द्यावापृथ्वीं विना कश्चित्किमपि न कर्तुं शक्नोति।[422] अस्मिन् द्यावापृथिवीविषये विश्वासोऽस्ति यत् एते असङ्ख्ययोजनं यावत् प्रथिते स्तः।[423] अनयोरेव द्यावापृथ्व्योः हव्यम् अमृतञ्च उभे अपि स्थिते स्तः।[424] एते अस्मान् पेयपदार्थैः घृतेन च

---

413 अ.शौ.सं.१२/१/४१

414 अ.शौ.सं.१२/१/५

415 अ.शौ.सं.१२/१/३९

416 अ.शौ.सं.१२/१/४३

417 अ.शौ.सं.१२/१/१३

418 अ.शौ.सं.१२/१/२

419 अ.शौ.सं.१२/१/४२

420 अ.शौ.सं.१२/१/३७

421 अ.शौ.सं.१२/१/४

422 अ.शौ.सं.४/२६/६

423 अ.शौ.सं.४/२६/१

424 अ.शौ.सं.४/२६/४

तर्पयतः।[425] एवमेव पृथ्व्यां स्थितानाम् अनेकमार्गाणां विश्वासोऽत्र द्रष्टुं शक्यते, यस्मिन् उक्तम् अस्ति यत् अस्यां पृथ्व्यां भ्रमणयोग्यरथानां शकटानां च गमनोचिताः विविधमार्गाः सन्ति।[426]

एकोऽन्यो विश्वासो यत् मनुष्यैः ग्रामे सभां परिषदं च आयोज्य पृथ्व्याः गुणगानं कर्त्तव्यम्,[427] एवम् उपदिष्टं वर्तते। पृथ्वी इयं विश्वस्य अस्य पालिका समस्तरत्नानां च धारिका अस्ति इत्येवं रूपेण स्वीकृता विद्यते। किञ्च अस्यां पृथ्व्यां लोकहितकारिणो अग्नेः धारणस्य शक्तिरस्ति इत्यपि विश्वासो दृग्गोचरो जायते।[428] अन्यः एको विश्वासोऽस्ति यत् ओषधयः पृथ्व्याः जननी अस्ति तथा च पृथ्वी इयं धर्माश्रयेण धारिता वर्तते।[429] अन्यश्च एको विश्वासो यत् सर्वे देवगणाः पञ्चजनाश्च अस्याः एव मातृभूमेः प्रतिबिम्बाः सन्ति।[430] एकस्याम् अन्यस्याम् ऋचायाम् अतिसामान्यजनजीवनेन सम्बद्धो विश्वासः प्राप्यते यस्यां पृथ्व्यां प्राप्तानाम् अनर्घवस्तूनाम् अपेक्षया ऋषीणां ध्यानं धूलिधूसरसम्बन्धीनि वस्तूनि प्रति आकर्षितं कृतं विद्यते। तत्र कथितमस्ति यत् अत्र सिकताः प्रस्तरखण्डाः अश्मादीनि सर्वाणि उपलभ्यन्ते।[431] एवं वयं पृथ्वीविषये यावतीं कल्पनां विश्वासानां च अन्वेषणं कुर्मः तद् अल्पमेव यतोहि इयं वसुधा नैकविधैः विश्वासैः आश्चर्यैश्च आवृत्ता अस्ति।

नदीसम्बद्धो लोकविश्वासः

425 अ.शौ.सं.४/२६/६

426 अ.शौ.सं.१२/१/४७

427 अ.शौ.सं.१२/१/५६

428 अ.शौ.सं.१२/१/६

429 अ.शौ.सं.१२/१/१७

430 अ.शौ.सं.७/६/१

431 अ.शौ.सं.११/७/२१

भारतीयाः जनाः **“नद्यः अत्यन्तं पवित्राणि सन्ति सर्वविधपापेभ्यश्चमुक्तिं ददति”** इत्येवं मत्वा एताभ्यः मातुः उपाधिं प्रदाय पूजयन्ति। अत्र अधिकतरजनाः नदीनाम् उच्चारणकाले लोकविश्वासवशं **‘माँ’ ‘मैया’** वा शब्दाः नदीभिः सह प्रयुञ्जन्ति, यथा **‘गंगा माँ’ ‘गंङ्गा मैया;** वा **‘नर्मदा माँ’ ‘नर्मदा मैया’** वा इत्यादीनि। आसु सर्वासु नदीसु अपि गङ्गा सर्वाधिकं पवित्रं मन्यते। इयं देवनदी स्वर्गगङ्गा अपि उच्यते। अस्याः उत्पत्तिः भगवतो ब्रह्मदेवस्य कमण्डलोः अभूदिति मन्यते। पुराकाले गङ्गा स्वर्गेऽवस्थिता आसीत्, अस्याः निवासः पूर्वं शिवस्य जटायाम् आसीत्। स्वस्य पूर्वजानाम् उद्धारं कर्तुं अत्यन्तकठोरतपश्चर्यां कृत्वा राजा भागीरथः इमां गङ्गां पृथ्व्याम् आनीतवान्, अत एव राज्ञा भागीरथेन आनीतत्वात् गङ्गायाः अपरम् अन्यत् नाम **‘भागीरथी’** इति सञ्जातम्। प्रायः नदीनां जलानि पवित्राणि मन्यन्ते अतः एषां नदीनां जले स्नानं पुण्यकारकं मन्यते, परं गङ्गायाः महत्त्वं एताभ्योऽपि अधिकं स्वीक्रियते। उच्यते यत् यदि कश्चित् मनुष्यः गङ्गामातुः जपं शतयोजनात् दूरादपि करोति चेत् असौ गङ्गास्नानस्य पुण्यावाप्तिं सम्प्राप्य स्वसमस्तपापेभ्यो विमुच्यते, स्वर्गं च गच्छति। एवं गङ्गा अत्यन्तं पवित्रं, अनेकपुण्यफलप्रापयित्री मोक्षदायिनी चास्ति इति मन्यते।

वैतरणी –

नदीनां प्रसङ्गे यदा वयं लोकविश्वासस्य चर्चां कुर्मः तर्हि एकस्याः पौराणिकनद्याः नाम अत्यन्तं प्रसिद्धमस्ति, यस्याः अस्तित्वम् अस्मिन् भूलोके तु नास्ति परं जनानां विश्वासोऽयं यत् नदीम् इमाम् वयं मृत्योरनन्तरं प्राप्नुमः। स्वर्गं नरकं वा गमनात्पूर्वं इयं तरितव्या भवति। ये खलु पुण्यात्मानो जनाः भवन्ति ते तु अकृच्छ्रेणैव तरन्ति परम् अन्येषां कृते अस्याः पारम् अतिकठिनं भवति, यतोहि आपगा इयम् अतिमलिना। इमां तर्तुं गोदानं कर्तव्यं भवति अथवा धनान्नादिदातारः इमां तर्तुं शक्नुवन्ति। एवम् एव भिन्न-भिन्ननदीनां विषये जनेषु नानाविधो विश्वासो व्याप्तोऽस्ति।

कर्मनाशा –एतन्नदीविषये मतमिदं यत् योऽपि जनः अस्यां स्नाति तस्य पुण्यकर्माणि विनश्यन्ति।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां सप्तसिन्धोः अर्थात् सप्तनदीनाम् उल्लेखो बहुधा कृतोऽस्ति।[432] एकस्याम् ऋचायाम् आसाम् उत्पत्तिविषये विश्वासः प्राप्यते, उक्तम् अस्ति तत्र यत् एताः सप्त नद्यः हिमालयात् प्रभवन्ति समुद्रे च समागच्छन्ति।[433] नदीविषये अयमपि विश्वासोऽस्ति यत् नद्यः समुद्रस्य पत्न्यः राज्ञ्यश्च सन्ति।[434] यत्र सप्तसिन्धूनां वर्णनं अनेकवारं प्राप्यते तत्रैव नवतिनदीनां विषयेऽपि विश्वासः उपलभ्यते[435] एष एव विश्वासोऽस्माभिः ऋग्वेदेऽपि दृश्यते।[436] ऋग्वेदस्य एकस्मिन् अन्यमन्त्रे नवनवतिनदीनाम् अपि उल्लेखः प्राप्यते[437] तत्र च एतद् अपि ज्ञायते यत् एताः नवनवतिः ताः लघ्व्यो नद्यः सन्ति याः सप्तसिन्धुषु आगम्य सम्मिलन्ति।[438]

पर्वताधारितो लोकविश्वासः –

यथा पूर्वमेवोक्तं यत् संसारेऽस्मिन् यावन्ति अपि वस्तूनि तानि प्रति कश्चिदपि विश्वासः तु अवश्यमेव प्राप्यते। पर्वतानां विषयेऽपि तथैव अस्ति। पर्वतेषु सर्वप्रमुखः पर्वतो हिमालयः, अस्य विषये मान्यता इयं यत् पर्वतोऽयं प्राचीनतमः देवतानाम् आश्रयस्थलं वर्तते।[439] अस्मिन्

---

432 अ.शौ.सं.४/६/२, ६/६१/३, ७/११२/१, २०/१७/३, २०/९२/९

433 अ.शौ.सं.६/२४/१

434 अ.शौ.सं.६/२४/३

435 अ.शौ.सं.८/५/९

436 ऋ.१/८०/८ , १/२१/१३

437 ऋ.१/३२/१४ , १०/१०४/८

438 ऋ.१०/१०४/८

439 कुमारसम्भवः १/१-१५ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।

पर्वतश्रृङ्खलायां नैकानि देवस्थलानि सन्ति यथा बद्रीनाथः, केदारनाथः, गोमुखः, देवप्रयागः, ऋषिकेशः, कैलाशः, मानसरोवरः, अमरनाथश्च इत्यादीनि, एषां स्वस्य अलौकिको महिमा विद्यते। अयं हिमालय पर्वतः वसुधायाम् अस्यां सर्वोच्चतमः, अपि च अस्य अनेकाः विशेषताः सन्ति। भारतदेशस्य अलङ्कारस्वरूपेण कविसम्राजा आचार्यकालिदासेन अस्य पर्वतस्य

पूर्वापरौ तोयनिधी विगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १.१ ॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ १.२ ॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ १.३ ॥
यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ १.४ ॥
आमेखलं संचरतां घनानां च्छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥ १.५ ॥
पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ १.६ ॥
न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥ १.७ ॥
यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किंनराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥ १.८ ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ १.९ ॥
वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १.१० ॥
उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥ १.११ ॥
दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवा भीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥ १.१२ ॥
लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति वालव्यजनैश्चमर्यः ॥ १.१३ ॥
यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥ १.१४ ॥
भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥ १.१५ ॥

विशेषताव्यञ्जकानि नैकानि पदानि रचितानि सन्ति येषु हिमालयं प्रति लोकविश्वासस्य विशेषतानां च वर्णनं प्राप्यते। पर्वतोऽयं गङ्गातुल्यस्य पवित्रनदीनाम् उद्गमस्थलं, ऋषिमुनितपस्विसाधुसन्यासिनाम् आश्रयस्थलम्, प्राणदायिनाम् ओषधिवनस्पतीनां केन्द्रम्, धरायाः अस्याः स्वर्गः, सौन्दर्यस्य च अनुपमस्थानम् अस्ति।

विन्ध्याचलः –

विन्ध्याचलः पर्वतमाला अपि पवित्रपर्वतमाला मन्यते। पर्वतश्रृङ्खला इयं हिमालयः इव उच्चास्तु नास्ति परं लम्बा अवश्यमेव। अस्य पर्वतविषये किंवदन्ती इयं प्रसिद्धा अस्ति यत् एकदा ऋषिः अगस्त्यः दक्षिणदिशं प्रति गच्छन् आसीत्, तदा पर्वतोऽयं तं नत्वा अभिवादनं कृतवान्, तदा ऋषिणा उक्तं यत् अधुना अहं दक्षिणां प्रति गच्छामि यावत् पर्यन्तं अहं न आगच्छामि तावत् त्वया एवमेव स्थातव्यम्। ततः गतो मुनिः न कदापि आगतः एतस्मादेव अद्यावधि असौ तथैव नतोऽस्ति। अस्मिन् पर्वते नैकानि तीर्थस्थलानि सन्ति, यथा – मैहरदेवी, चित्रकूटः, सलकनपुरम्, विन्ध्याचलः, अमरकण्टकः, पञ्चमढ़ी इत्यादीनि। एवमेव विभिन्नपर्वतानां विषयेऽपि नैके लोकविश्वासाः प्राप्यन्ते।

समुद्रकूपतडागसरोवराधारितो लोकविश्वासः

समुद्रः

जलस्थानीयलोकविश्वासेषु समुद्रः प्रमुखतमः। पौराणिककथासु प्राप्यते यत् दैवैः दानवैश्च समुद्रमन्थनं कृतम्, तस्मिन् अनेकानि अनर्घरत्नानि प्रादुर्भूयन्त। एवमेव क्षीरसागरनागलोकपाताललोकादीन् प्रति विश्वासो जनमानसे प्राप्यते।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां 'समुद्रः' शब्दः अनेकत्र प्रयुक्तोऽस्ति।[440] अस्यां द्वौ त्रयः चत्वारः समुद्राः उल्लिखिताः सन्ति।[441] अत्र 'समुद्र' शब्दः नास्ति नदीवाचकः यतोहि एका तादृशी अपि ऋचा विद्यते यत्र समुद्रस्य नद्याश्च उभयोरपि वर्णनमस्ति । यतोहि सिन्धुः एकः तादृशः शब्दः यः समुद्रस्य नद्याश्च उभयोरेव वाचकः ।[442] शौनकसंहितायां द्वौ समुद्रौ वरुणस्य कुक्षिद्वयरुपेण वर्णितौ स्तः ।[443] एतयोद्वयोः समुद्रयोः विषये द्वाभ्याम् अन्याभ्याम् ऋग्भ्याम् ज्ञायते इदं उत्तर समुद्रोऽस्ति । अत्र एकस्य ब्रह्मचारिणः क्रियाकलापः सन्दर्शितः यत्र उक्तं यत् ब्रह्मचारी स्वविद्याध्ययनं समाप्य स्वं तेजः पूर्वसमुद्रात् उत्तरसमुद्रं यावत् प्रसार्य जनान् उत्साह्यति ।[444] एवम् एव त्रयाणां चतुर्णां च समुद्राणां विषये वर्णनम् उपलभ्यते।[445]

कूपः

अस्य विषये उच्यते यत् कश्चित् मनुष्यं यदि कुक्कुरो दंशति चेत् असौ शुचिजलयुक्ते कूपे पश्येत्। एवं कृते सति तस्य श्वानो विषस्य प्रभावो न भविष्यति स्वस्थोऽपि च सेत्स्यति।

तडागः

भिन्नभिन्नतडागानां विषये भिन्नभिन्नविश्वासः श्रूयते। एवमेव अमृतसरे सिक्खवर्गानां प्राचीनतमः स्वर्णमन्दिरं स्थितमस्ति, मन्दिरेऽस्मिन् यस्तडागः तस्य नाम अमृतमस्ति, अत एव तडागोऽयम् '**अमृतसरः**' इत्युच्यते। कालक्रमेण अस्यैव नाम्ना नगरम् इदम् 'अमृतसरम्' इति

---

[440] अ.शौ.सं. ३/२३/६ , १०/७/१५ , १२/१/३ आदि 'समुद्रः'

[441] अ.शौ.सं. ४/१६/३ , ९/५/२० , १३/२/२०, 'समुद्रौ' आदि

९/१५/२१, ११,८,१० 'समुद्राः' आदि

[442] अ.शौ.सं. १२/१/३

[443] अ.शौ.सं.९/५/२० , ४/१६/३

[444] अ.शौ.सं. ११/५/६ , ११/२/२५

[445] अ.शौ.सं. १९/२७/४ , १९/२७/३

प्रसिद्धम् बभूव। अयं तडागः अत्यन्तं पवित्रो मन्यते। सिक्खगुरुणा निर्मापितः आसीत् अयम्। अयं तडागः सकलजगति प्रसिद्धोऽस्ति।

सरोवरः

एवमेव सरोवराणाम् अपि अस्ति स्वकीयं विशिष्टं महत्त्वम्। तस्य विषये नैके विश्वासाः जनेषु सन्ति। एषु सर्वप्रमुखः सरोवरोऽस्ति मानसरोवरः। सरोवरोऽयं पवित्रतमः मन्यते। हिन्दूधर्ममतेन अस्मिन् स्नानेन पापेभ्यो मुक्तिः भवति। कैलाशशिखरं प्रति गमनात् पूर्वं हिन्दूधर्मावलम्बिनो सरोवरेऽस्मिन् स्नानं कृत्वा एव यान्ति।

चेतनाधारितो लोकविश्वासः

यथा पूर्वमेव उक्तं यत् चेतनाधारितो लोकविश्वासः द्विधा विभज्य दृश्यते, ययोः प्रथमोऽस्ति पशुपक्ष्याधारितलोकविश्वासः। अस्मिन् विषयेऽपि भिन्नभिन्नलोकविश्वासाः सर्वसाधारणजनेषु व्याप्ताः सन्ति। यदि पशुः विषये चर्चां कुर्मश्चेत् भारतीयजनानां मतेन गौः पवित्रतमः पशुरस्ति। एतत्सदृशः पवित्रतमः अन्यः कश्चिदपि पशुः अस्यां वसुधायां नास्ति। अस्य पवित्रताविषये उच्यते यत् अस्मिन् अस्यां वा त्रयस्त्रिंशतिदेवतानां निवासोऽस्ति। अस्याः प्रत्येकस्मिन् अङ्गप्रत्यङ्गे देवीदेवताः निवसन्ति। एतस्याः महिमा प्राचीनकालादेव प्रसिद्धोऽस्ति। सहस्रधाराभिः इयं सर्वेषाम् अभिलाषां पूरयति इति मन्यते । ऋग्वेदीयविश्वासानुसारेण। अन्यस्यामेकस्यां ऋचायाम् उक्तं यत् अस्याः मधुरस्वरेण गृहस्य कल्याणं हितं च भवतीति। एवमेव अन्यवैदिकसाहित्येष्वपि गोः महिमा गीतोऽस्ति। गोर्विषये अनेके लोकविश्वासाः श्रूयन्ते, यथा गोग्रासः, बलिवैश्यदेवयज्ञः, गोपाष्टमी – पञ्चगव्यः च इत्यादयः। भारतीयवैदिकसंस्कृतौ गोग्रासः पुण्यार्जनाय क्रियते, बलिवैश्वदेवयज्ञश्च अज्ञानतया कृतस्य पापस्य उन्मूलनाय, अपि च वयं स्वार्थिनो न स्याम अपितु अन्यप्राणिनाम् अपि संरक्षणं कुर्याम् एतदर्थमपि विधीयते। गोपाष्टमी कार्तिकमासस्य शुक्लपक्षस्य अष्टमीतिथौ भवति,

अस्मिन् दिने गवां विशिष्टा पूजा क्रियते। पञ्चगव्यः गोभ्यः सम्प्राप्तपदार्थान् प्रदर्शयति, येषु जनानाम् आस्थाविशेषोऽस्ति। एवम् एव अनेको विश्वासः गोविषये प्राप्यते।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां गौः सौभाग्यस्य सूचकम् अस्ति इति उपदिष्टम्।[446] अत्र अस्याः विराड्रूपस्य अपि वर्णनम् उपलभ्यते। एतदनुसारं गवि सर्वदेवतानां वासो भवति।[447] एताः गावः देवेभ्योऽपि दुग्धं, घृतं, मधु इत्यादीनि च ददाति।[448] साधारणजनेषु विश्वासोऽयं दृश्यते यत् ते कथामाध्यमेन जनान् प्रेरयन्ति। एतेषां कथासु बहुत्र एवं विधानि कथानकानि प्राप्यन्ते येषु मुर्खबालकाय तत्गुरुणा गोचारणस्य कार्यं दीयते स्म, येन तस्य बुद्धिः तीव्रा भवति स्म। एवं विधा एव कामनाः अत्रापि प्राप्यन्ते, आसु कुमतेः दुर्मतेश्च विनाशाय गौः याच्यते इति विश्वासः प्राप्यते।[449] एताः ऐश्वर्यस्य आधारभूताः सन्ति।[450] गोः ध्वनिविषये अयं विश्वासोऽस्ति यत् तस्याः ध्वनिमात्रेण गृहं पवित्रं भवति।[451] गोसम्बद्धोऽयमपि एको विश्वासोऽस्ति यत् गोः कर्णे उष्णलौहेन ताम्रेण वा धातुना प्रज्वाल्य मिथुनचिह्नस्य निर्माणेन गौः असौ अधिकान् वत्सान् जनयति।[452]

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां गोभिन्नस्य अन्यप्राणिनो विषयेऽपि विश्वासः प्राप्यते। विश्वासः अस्ति यत् अश्वः इन्द्रादेशेन मनोवेगेन गन्तुं शक्नोति।[453] सामान्यतया गौः अश्वश्च रथस्य शकटस्य वा वोढा मन्येते परं पुरा उष्ट्रोऽपि रथं वहति स्म।[454] एकस्याः ऋचोऽनुसारं

---

446 अ.शौ.सं. ४/२१/५

447 अ.शौ.सं. ९/७/२५

448 अ.शौ.सं. १०/९/१२

449 अ.शौ.सं. ७/५०/७

450 अ.शौ.सं. ११/१/३४

451 अ.शौ.सं. ४/२१/६

452 अ.शौ.सं. ६/१४१/२

453 अ.शौ.सं. ६/९२/१

454 अ.शौ.सं. २०/१२७/२

बुक्कन्तः श्वानः वृकाश्च दूरम् अपसार्यन्ते स्म इत्यपि विश्वासो दृष्टिगतो भवति।[455] अन्यो विश्वासोऽस्ति यत् मृगाः यदा प्रसन्नाः तदा नृत्यन्ति स्म।[456] एवमेव व्याघ्रादिहिंसकप्राणिनां गवादिग्रामीणपशूनां मातापिताविषयेऽपि विश्वासः उपलभ्यते। ऋचायाम् एकस्यामुक्तम् – " सर्वेषाम् एतेषां प्राणिनां पिता द्युलोकः पृथ्वी च माताऽस्तीति।"[457] वन्यपशूनां विषये विश्वासोऽस्ति यत् सर्वे वन्याः प्राणिनः इन्द्राः सन्ति रुद्रसंरक्षणे च निवसन्ति।[458] रुद्रस्य प्रमुखाः पञ्च पशवो मन्यन्ते, ते च गौः, अश्वः, पुरुषः, मेषः, अजा च सन्ति, एते ऋचि एकस्यां गणिताः सन्ति ।[459]। एवमेव अनेकप्राणिनां विषये अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां विश्वासो दृश्यते। सर्वे वन्यप्राणिनो मनुष्यात् प्रायः बिभ्यति इति विश्वासः।[460] भयविषयेऽपि नैके विश्वासाः प्राप्यन्ते। श्वानो सिंहम् अवलोक्य भयात् पलायन्ते।[461] कपिः श्वानो भाययति।[462] ग्रामीणपशवो वन्यपशुभ्यो बिभ्यति,[463] वृकेभ्यो मेषाः अजाश्च पलायन्ते।[464] सिंहस्य गर्जनाद् पशवः पक्षिणश्च सर्वेऽपि बिभ्यति।[465] एवमेव अनेकप्राणिनां विभिन्नक्रियाकलापादीनां विषये नानाविधाः विश्वासाः दृश्यन्ते। विश्वासः एकोऽस्ति यत् मशकाः हस्तिनं तुदन्ति।[466] हस्तिविषये विश्वासो

---

455 अ.शौ.सं. ७/९५/२

456 अ.शौ.सं. ६/४९/३

457 अ.शौ.सं. ३/९/१

458 अ.शौ.सं. ४/२/२४ , २०/८७/६

459 अ.शौ.सं. ११/२/९

460 अ.शौ.सं. ५/२१/४

461 अ.शौ.सं. ४/३६/६

462 अ.शौ.सं. ३/९/४

463 अ.शौ.सं. ३/३१/३

464 अ.शौ.सं. ५/२१/५

465 अ.शौ.सं. ५/२१/६

466 अ.शौ.सं. ४/३६/९

यत् हस्तिनो हस्तिनीनां पादैः सह पादं कृत्वा चलन्ति।[467] एषां मदेन इन्द्रोऽपि उपमीयते यत् इन्द्रः मदयुक्तो वन्यो हस्ती इव अस्तीति।[468] अश्वस्य विषये अनेके विश्वासाः सन्ति। एते रथेन संयुज्य वायुवेगेन तुल्यं गच्छेयुरिति प्रार्थितमस्ति[469], यतोहि एषु अतितीव्रगमनस्य शक्तिः अन्तर्हिताऽस्ति।[470] चलतां पशूनां गौः श्रेष्ठो मन्यते।[471] एवमेव वृकविषयेऽपि अनेको विश्वासोऽस्ति यत् अयं मेषान् हन्ति।[472] वृकस्य श्मश्रोः त्रोटनस्यापि वर्णनं प्राप्यते एकस्याम् ऋचि।[473] केचित् पशवः तेजस्विपशूनां श्रेणिषु स्थापिताः सन्ति, यथा सिंहो व्याघ्रः इत्यादयः।[474] अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां पशुचिकित्साविषयोऽपि उद्धृतः अस्ति। मनुष्येण सहैव गवाश्वादीनां पशूनां चिकित्साऽपि भवति स्म इत्यपि प्राप्यते[475] एकस्मिन् मन्त्रे पशूनां संवर्धनाय नैकासु ऋक्षु गोशालानाम् अपि वर्णनं प्राप्यते, तत्र काम्यते यत् गोशालासु आसु पशवः सुखेन निवसेयुः वर्द्धयेयुश्च।[476] आसु गोशालासु मनोरमं स्थानं स्यात्, जलादीनां च सुविधा भवेत्।[477] गोशालासु केवलं गावः एव न अपितु अन्य ग्रामीणपशवोऽपि आगत्य निवसन्ति स्म।[478] एको विश्वासोऽस्ति यत् पशूनां पक्षिणां च कृते अरुन्धतीनामको ओषधिः बहु

---

467 अ.शौ.सं. ६/७०/२

468 अ.शौ.सं. २०/५३/२

469 अ.शौ.सं. ६/९२/१

470 अ.शौ.सं. ६/९२/२

471 अ.शौ.सं. १९/३९/४

472 अ.शौ.सं. ७/५०/५

473 अ.शौ.सं. १९/४७/८

474 अ.शौ.सं. ६/३८/१

475 अ.शौ.सं. ८/७/११

476 अ.शौ.सं. ३/१४/६

477 अ.शौ.सं. ३/१४/१

478 अ.शौ.सं. २/२६/३

लाभप्रदो भवति।[479] मन्त्रे एकस्मिन् काम्यते यत् मनुष्येण सहैव गवादिपशूनाम् अपि रोगाः दूरं भवेयुः।[480] मृग इव पादः वृषः इव दन्तः गौरिव गतिः कटुध्वनिश्च इत्येते अङ्गदोषाः भवन्ति इति विश्वासः।[481] अन्यद् एकं मतं यत् मनुष्ये गवि अश्वे च अग्निः विद्यते।[482]

पक्षिसम्बन्धी लोकविश्वासः

संस्कृते पक्षिणः **"शकुनः"** इत्यपि उच्यन्ते। पुराकाले पक्षिमाध्यमेन शुभाशुभसूचनाः ज्ञायन्ते स्म एतत् एतेषां चेष्टाभिः ध्वनिभिश्च अवगम्यते स्म। अत एव पक्षिसम्बन्धिनम् एवं विधं ज्ञानं 'शकुनशास्त्रम्' इति अभिधीयते। मङ्गलामङ्गलस्य बोधकेषु पक्षिसु काकः प्रधानतमः। अस्य विषये लोकविश्वासः बहुलतया प्राप्यते। कृष्णवर्णेन कर्कशध्वनिना मांसभक्षणेन च पक्षी हेयदृष्ट्या दृश्यते ततो अन्यत्र अयं पितृतर्पणस्य अपि अन्यतमं साधनं मन्यते। अस्मादेव अयं पितृपक्षे विशेषरूपेण आद्रियते। आश्विनमासस्य कृष्णपक्षः एव पितृपक्षः उच्यते। अस्मिन् काले सनातनधर्मी जनः (हिन्दू) स्वपितॄणां तर्पणाय अनुष्ठानं करोति यस्मिन् असौ स्वपितॄन् भक्षयितुं प्रयतते। भोजनमदः यदि काको भक्षेत् चेत् मन्यते यत् पितृभिः भुक्तम् अथवा पितृसमीपं प्राप्स्यति तत् भुक्त्वा ते तृप्तिं लप्स्यन्ते। एवमेव काको यदि गृहस्योपरि उपविश्य ध्वनिं कुर्यात् अथवा कश्चित् स्वीयं अन्यं मित्रं भिजनं कारयेत् चेत् मन्यते यत् अद्य कश्चित् अतिथिः आगमिष्यति। अत इदं शुभसूचना मन्यते। काकः स्वतीव्रबुद्ध्या अपि प्रसिद्धोऽस्ति, अस्मादेव भारतीयसाहित्येषु विद्यार्थिनः काकः इव सजगाः सक्रियाश्च स्युः एतदर्थं पाठ्यन्ते अध्याप्यन्ते च।[483]

---

479 अ.शौ.सं. ६/५९/१-२

480 अ.शौ.सं. १२/२/१

481 अ.शौ.सं. १/१८/४

482 अ.शौ.सं. १२/१/१९

483 काकचेष्टावकोध्यानं स्वाननिद्रा तथैव च ।

पिकः – पिकस्य ध्वनिः अत्यन्तं सुमधुरो मन्यते। अयं काकः इव अतिकृष्णो भवति तदापि अस्य मधुरां वाचं सर्वे श्रोतुम् इच्छन्ति। उल्लूकः अतिमूर्खरूपेण गण्यते, एत एव कश्चित् मूर्खजनं प्रति अपशब्दस्य प्रयोगं कर्तुं भवति तदा असौ 'अये उल्लूकः!' इति सम्बोध्यते। अयमपि अशुभपक्षिषु गण्यते। अयं प्रकृत्या दिवान्धो भवति।

मयूरः – अयं पक्षिषु दर्शनीयतमः। अयं स्वहृद्यरूपेण मधुरध्वनिना च सर्वेषु पक्षिषु अत्यन्तं सम्मोहको भवति। अद्यापि अयं भारतवर्षस्य अस्य राष्ट्रियपक्षी अस्ति। एवमेव भिन्नभिन्नपक्षिणां विषये भिन्नभिन्नमतानि लोके दृश्यन्ते। एषु शुकः हंसः चटकः इत्यादयः सन्ति। सर्वेषां विषये शुभाशुभः अनेको लोकविश्वासः प्राप्यते।

अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां खगस्य विषये नैकानि मतानि दृश्यन्ते, यथा पूर्वमेव उक्तं यत् पक्षिणोऽन्यत् नाम 'शकुनः' इत्यपि अस्ति। एतैः सह शुभाशुभानां विश्वासोऽपि संयुक्तोऽस्ति। अत एव अथर्ववेदीयजनाः अपि पक्षिणः शुभाशुभाः भवन्ति इति विश्वसन्ति स्म। अत्र कपोतानां विषये उभावपि विश्वासे प्राप्येते लक्ष्येते वा। एकस्याम् ऋचि शङ्का उपस्थापिता यत् आगताः कपोताः अस्मभ्यं शुभा (हितकारकाः) स्युः।[484] अत्रैव अग्रिममन्त्रे काम्यते यत् कपोताः अस्माकं कृते अशुभाः न स्युः।[485] कपोतानां विषये अथर्ववेदीयशौनकसंहितायां नैकविधानि मतानि समुपलभ्यन्ते। एकं मतमस्ति यत् कपोते अमङ्गलत्वं भवति, अस्मादेव एकस्याम् ऋचि उक्तम् अस्ति यत् त्वं मन्त्रैः तस्य अमङ्गलत्वं (अपशकुन) अपसारय।[486] एकम् अन्यदपि मतं यत् स्वकीयगृहेषु कपोताय उल्लूकाय च

अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पञ्च लक्षणम्॥ (प्रसिद्ध)

[484] अ.शौ.सं. ६/२७/२

[485] अ.शौ.सं. ६/२७/३

[486] अ.शौ.सं. ६/२८/१

उभाभ्यामेव निवासाय स्थानं न प्रदातव्यम्।[487] परम् एकं मतम् इदम् अपि यत् कपोताय अन्नं सम्प्रदातव्यम्।[488] अन्नेषु धान्यं पक्कं पीलूफलम् च इत्यादीनि दातव्यानि। कपोतभिन्नानाम् अन्यपक्षिणां विषयेऽपि विश्वासः प्राप्यते – श्येनविषये मतमिदं यत् तस्मात् सर्वे पक्षिणः बिभ्यन्ति।[489] गृध्रविषये मतमस्ति यत् एते दिवि उड्डीयन्ते।[490] गरुडविषये विश्वासोऽस्ति यत् अयम् उड्डयनकाले स्वीयपक्षे (पंखों को) पृथ्व्यां चाकम्प्यन्ते।[491] मयूरस्य नृत्यवर्णनम् अतिसामान्यमेव।[492] मयूरस्य पक्षाणि अश्वोपरि सज्जीकर्त्तव्यानि इति एतद् एकं मतम्।[493] अन्यः एको विश्वासो वर्तते यत् हंसो मधुरभाषी भवति इति, अस्मादेव अथर्ववेदीयशौनकसंहितायाम् एकस्याः ऋचायाः माध्यमेन एकं मित्रम् अन्यत् स्वकीयं मित्रं परामृश्यते यत् 'भो मित्र! त्वं हंस इव मधुरवाग् भव।[494]' मान्यता एका इयम् अपि यत् हंसः गरुडः लघवः बृहतश्च सर्वे पक्षिणः रुद्रस्य संरक्षणे निवसन्ति।[495]

ऋचायाम् एकस्यां मांसभक्षिणां पक्षिणां दिग्दर्शनं कारितं वर्तते, एषु काकः गृध्रः श्येनः च उल्लिखिताः सन्ति।[496] अत्र नभश्चराणां जलचराणां उभयविधानामपि पक्षिणामपि वर्णनं प्राप्यते। काकविषये एकं मतमासीत् यत् यदि कश्चित् उड्डीयमानः काकः शरीरे प्रक्षिपति चेत्

---

487 अ.शौ.सं. ६/२९/२

488 अ.शौ.सं. २०/१३५/११

489 अ.शौ.सं. ५/२१/६

490 अ.शौ.सं. ७/९५/१

491 अ.शौ.सं. ६/८/२

492 अ.शौ.सं. ४/३४/७

493 अ.शौ.सं. ७/११७/१

494 अ.शौ.सं. २०/९१/३

495 अ.शौ.सं. ११/२/२४

496 अ.शौ.सं. ११/९/९

तत् अशुभसूचकं मन्यते स्म। अस्मादेव ऋचायाम् एकस्यां काम्यते – “उड्डीयमानस्य काकस्य शरीरे पतनम् अशुभं न स्यात्” इति।[497] एवमेव उल्लूकविषयेऽपि प्राप्यते यत् उल्लूकस्य षणम् अमङ्गलं न भवेत्। कपोतविषयेऽपि एवमेव आशङ्क्यते यत् कपोतस्य अग्नौ पादप्रक्षेपणम् अहितकरं न स्यात्।[498]

वनस्पत्याधारितो लोकविश्वासः

वनस्पत्याधारितलोकविश्वासेषु अश्वत्थवृक्षविषये सर्वाधिकः लोकविश्वासः प्राप्यते। वृक्षेऽस्मिन् देवतानां वासो मन्यते। सम्पूर्णेऽस्मिन् भारतवर्षे वैदिकसंस्कृति – अनुगामिनः अश्वत्थस्य कर्तनम् अशुभं मन्यन्ते। वृक्षम् इमं बहवो जनाः पूजयन्ति अपि। बौद्धधर्मावलम्बिनो जना अपि अश्वत्थं प्रति श्रद्धां कुर्वन्ति अस्य मूले च दीपकं प्रज्वालयन्ति। बहुषु स्थानेषु अश्वत्थे ग्रामदेवतायाः वासो मन्यते। वृक्षोऽयं प्राणवायवेऽपि प्रसिद्धोऽस्ति, यतोहि अयं सर्वदा अष्टप्रहरं प्राणवायुं प्रददाति। परं सामान्यतया अन्येषु वनस्पतीषु एवं नास्ति, ते दिने तु प्राणवायुं ददति परं निशाकाले असमर्थाः जायन्ते।

वनस्पतयः चेतनाधारितश्रेणिषु गण्यन्ते अस्माभिः यस्य प्रमाणं अथर्ववेदस्य शौनकशाखायामेव प्राप्यते।[499] अत्र वनस्पतिविषयकाः अन्ये विश्वासाः अपि बहुलतया प्राप्यन्ते। एतेषां वनस्पतीनाम् आधारः आकाशीय जलम् अस्ति इति एकं मतम्।[500] एषु वनस्पतीषु अश्वत्थविषये नैको विश्वासः उद्धृतोऽस्ति। अत्र अस्य विशेषतानाम् अपि दिग्दर्शनं जायते। द्वयोः ऋचोः अयं खदिरवनस्पतिना सह वर्णितो वर्तते। अस्मिन् अपि अश्वत्थस्य

---

497 अ.शौ.सं. ७/६४/१

498 अ.शौ.सं. ६/२९/१

499 अ.शौ.सं. १/३२/१

500 अ.शौ.सं. १/३२/२

स्वभावानुसारन् एव विश्वासः दृष्टिगतो भवति। अश्वत्थस्य उपरि शमीवृक्षप्ररोहणस्य वर्णनं लभ्यते एकस्याम् अन्यस्याम् ऋचायाम्।[501] एकस्याः भिन्न ऋचायाः माध्यमेन उपस्थापितम् इदं यत् अश्वत्थो देवानां निवासस्थानं विद्यते।[502] एकः सर्वप्रसिद्धो विश्वासोऽयं यत् वनस्पतयः उत्तिष्ठन्तः एव स्वपन्ति।[503] अथर्ववेदसंहितायाः शौनकशाखायां एवं विधानाम् अनेकानां विश्वासानां नामोल्लेखपूर्वकं वर्णनं प्राप्यते, तत्र बदरीसदृशसाधारणवनस्पतिना साकं पलाशवृक्षस्य अपि वर्णनम् अस्ति। अस्य पलाशस्य विषये जनानां धारणा इयं यत् अयं श्रेष्ठो वृक्षः। मनुष्यान् प्रत्युपदिश्यते यत् युष्माभिरपि पलाशवृक्षेण इव भवितव्यम्।[504] वृक्षाणां यो व्रणो भवति स ब्रह्मशक्त्या सम्यक् जायते।[505]

---

501 अ.शौ.सं. ६/३०/१, २०/१३१/१४

502 अ.शौ.सं. ६/९५/१

503 अ.शौ.सं. ६/४४/१

504 अ.शौ.सं. ६/१५/३

505 अ.शौ.सं. ८/१०/१८

उपसंहारः

उपसंहार

शोधकार्येणाऽनेन इदं स्पष्टतया सिद्धं भवति यत् अथर्ववेदे तत्कालीनलोकसंस्कृत्याः विविधाङ्गानां स्वरूपविज्ञानार्थं पर्याप्तत्वेन सामग्री समुलभ्यते। वस्तुतः वैदिककालीनेयं संस्कृतिः यज्ञप्रधाना आसीत्, यत्र यज्ञस्य ज्ञातुः पुरोहितस्य महत्त्वपूर्णं स्थानमासीत्। वैदिकानाम् ऋषीणां मनोभावाः नैसर्गिकोदगाराश्च मौखिकपरम्परया प्राप्तेषु मन्त्रेषु यत्र-तत्र विस्तीर्णाः आसन् । अतः तेषां सङ्ग्रहस्य यदा आवश्यकता अनुभूता, तदा विभिन्नश्रौतयागेषु यज्ञेषु वा प्रयुक्तान् मन्त्रान् चित्वा तेषामेका संहिता विहिता ये ऋग् नाम्ना प्रसिद्धा, तस्य सङ्ग्रहस्य नाम ऋग्वेदः आसीत् । ऋचां सङ्ग्रहः यज्ञस्य होतुः पुरोहितस्य कार्यकलापं दृष्ट्वा एव प्रकृतो वर्तते। यज्ञस्य अध्वर्य्योः पुरोहितस्य कर्म संदृश्य ऋग्वेदाद् नैकाः ऋचः गृहीत्वा तासु अन्येषामपि मन्त्राणां योगं विधाय यजुर्वेदो नाम अपरा संहिता विहिता, यत्र सङ्गृहीताः मन्त्राः यजूंषि इति कथिताः। यज्ञे तृतीयपुरोहितो भवति उद्गाता । यज्ञे तेनोद्गात्रा याः च गीयन्ते ताः ऋग्वेदाद् अन्यत्र चित्वा तृतीयासंहिता "सामवेद" नाम्ना प्रसिद्धा। अत्र सङ्गृहीताः मन्त्राः सामानि इत्यभिहिताः। एतासां संहितानां रचनायाःपश्चादपि बहवः एतादृशाः मन्त्राः आसन् येषां प्रयोगः प्रमुखेषु श्रौतयज्ञेषु न भवति स्म । ते मन्त्राः विषयादृष्ट्या लौकिकानाम् इच्छानाम् उद्देश्यानां च सम्बन्धिताः आसन्। एतेषां सङ्ग्रहः अथर्ववेदेति नाम्ना बभूव। पश्चाच्च ते मन्त्राःयज्ञकर्मणि चतुर्थपुरोहितेन 'ब्रह्मणः प्रयोगमार्गे समानीताः। अथर्ववेदे एतादृशाः अपि केचिद् मन्त्राः वर्तन्ते येषां सङ्ग्रहः ऋग्वेदेऽपि दृश्यते,परन्तु तत्र तेषां मन्त्राणां सङ्ख्या अधिका वर्तते ये ऋग्वेदे वा यजुर्वेदे वा न वर्तन्ते। संस्कृतसाहित्ये समुपलब्धैः नैकविधप्रमाणैरेतत् सिद्धं भवति यत् प्राक्सङ्गणिताः त्रयो वेदाः ये वेदत्रयी इति नाम्ना विख्याताः तेषां समकक्षपदम् अथर्ववेदः पश्चात् प्राप्तस्य कारणं मुख्यतः एतदेव प्रतीयते यत् अथर्ववेदस्य निजमन्त्राणां सम्बन्धः अधिकांशतः मनुष्यसांसारिकाभासैः सह वर्तते। यतो हि तस्य कालस्य संस्कृतिः यज्ञप्रधाना आसीत् तस्माद् अथर्ववेदीयाः पुरोहिताः अपि यज्ञकर्मणे महत्त्वं ददुः। परन्तु ते अश्वमेध- दर्शपूर्णमास-सौत्रामणी- अग्निष्टोम- गवामयन-वाजपेय-राजसूर्यादीनां श्रमसाध्यव्ययसाध्यानां यज्ञानां स्थाने लघु-लघुयज्ञानां महत्त्वं प्रतिपादयामासुः यान् यज्ञान् कश्चित् साधारणोऽपिजनः अल्पव्ययम् एव कर्तुम् अर्हति स्म। यथा ब्राह्मणेभ्यः ओदनस्य दानमपि एको यज्ञो वर्तते मन्त्रपूतानां जलानां सेचनं, अर्थर्ववेदीयान् मन्त्रान् समुच्चारयन् अक्षतादिभिः आहुतिप्रदानम् अयमपि एकोऽपरो यज्ञो वर्तते। अथर्ववेदस्य अष्टमे काण्डे सर्वयज्ञानां वर्णनं समुपलभ्यते।

एकतोऽथर्ववेदीयाः पुरोहिताः एतत् चिन्तयन्ति स्म यत् साधाराणात् साधारणोऽपि जनः सुखी-स्वस्थं च जीवनं यापयन् शतवर्षायुःभवेत् इति,अपरतश्च ते राज्यकर्तृकक्षत्रियवर्गस्य आवश्यकताः अपि ध्यायन्तः राज्यकर्मसम्बद्धविषयेषु विस्तृतविमर्शं चक्रुः। अतस्मादेव नृपः साफल्यं लभेत् तस्य रिपुः नश्येत्, तस्य शासनं सुचारुः प्रचलेत् इत्यादिविषयैः सम्बद्धानां मन्त्राणां तथा चान्योपायानाम् अथर्ववेदिनः विशेषवर्णनं कारयामासुः। सङ्क्षेपतः एतत् वक्तुं शक्यते यत् मनुष्यजीवनस्य न कश्चित् तादृशोंऽशो वर्तते यस्मिन्नंशे अस्मिन् वेदे विमर्शो न विहितः।

लोकसाहित्यस्य भाषा लोकमानसस्य स्वाभाविकी सरला चाभिव्यक्तिः भवति। तस्यां साधारणजीवने संदृश्यमानानां वस्तूनां प्राकृतिकदृश्यानां च सजीवं चित्रं भवति। बहवः एतादृशाः प्रयोगाः शब्दाः भवन्ति। ये सामान्यसम्भाषणे तु प्रायः बहुप्रचलिताः भवन्ति परन्तु साहित्ये तेषाम् अतिविरलः एव प्रयोगः समुपलभ्यते कदाचित्तु अप्रयोगः स्थितिरेव भवति। एतत्दृष्ट्या दृष्टे सति ज्ञायते यत् अथर्ववेदीयभाषायाम् औषधीनां, सर्पाणां, कीटपतङ्गानाम्, जडमूलादीनां, राक्षसपिशाचानां च बहूनि एतादृशानि नामानि उपलभ्यन्ते यानि अन्ये साहित्ये सर्वथाः अनुपलब्धाः सन्ति। अतः सायणादीनां भाष्यकाराणां कृते तदुत्तरकालीनानां कोशग्रन्थकाराणां कृते च तादृशानां शब्दानां साधुव्याख्यानम् अतीवकठिनम् असम्भवप्रायश्च जातम्। सम्भवतः एतादृशाः शब्दाः वेदानां संहितीकरणस्य काले लोकभाषायां प्रचलिताः स्युः,परन्तु साहित्ये तेषाम् अप्रयोगत्वात् विरलप्रयोगत्वाद् वा कालान्तरे ते विलुप्ताः बभूवुः। आद्यादिः (एकविधं संगीत वाद्यम्), अलिगी(सर्पः), अपचित् (व्याधिविशेषः),लूडूः (ज्वरः) कुरुरः कुम्बो वा (शिरोवस्त्रम्/ आभूषणम्), प्रवर्तः (कर्णाभूषणम्), विलिगी (सर्पभेदः तादृशानामेव) इत्यादयः शब्दाः केचन् उदाहरणभूताः सन्ति। अनेकेषां व्याधीनामौषधीनां चैतादृशानि नामानि वर्तन्ते येषां तत्परवर्तिसंस्कृतसाहित्ये प्रयोगो नोपलभ्यते। अतस्तेषां स्वरूपनिर्णयोऽर्थनिर्णयो वा अतिकाठिन्यम् आवहति।

भाषायाः केचद् एतादृशाः प्रयोगाः अथर्ववेदे समुपलभ्यन्ते येषां विषये परवर्तिसंस्कृतसाहित्य लक्षणग्रन्थकाराः अश्लीलमिति ग्राम्यमिति चोक्त्वा भ्रूनासिकं सङ्कोचयन्ति। परन्तु दैनिकभाषा या लोकभाषेति उच्यते तत्रैतेषां शब्दानां प्रयोगो न वर्जितः। ते तत्र खलु प्रसङ्गानुसारं भाषायाः प्रभावसिक्ताभिव्यक्तयो भवन्ति। मार्गे,वाहनादिभिः यातायातसमये बहूनां जनानां मुखात् मातृदुहितृभगिन्यादिभिः अनुचितसम्बन्धस्य सूचकाः,पुरुषलिङ्ग-स्त्रीलिङ्गसूचकाः वा शब्दाः प्रायः श्रुतिगोचराः भवन्ति, दृष्ट्या ते अथर्व-ऋषेः नैसर्गिक-निःसङ्कोच-लोकाभिव्यक्तेः प्रतीकानि मन्येरन्। तद्यथा दृश्यन्तां कानिचिदुदाहरणानि –

औषधिं सम्बोधयन् तस्य प्रयोगेण च राक्षसानां विनाशं कामयन् ऋषिः बादरायणः कथयति यत् अहं नृत्यं कुर्वन् गन्धर्वाणाम् अण्डकोशं उपस्थं च सञ्चूर्णयिष्यामि –

आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः। भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः॥

(अ.शौ.सं.४/३७/७)

प्रतिहिंसायाः भावानासु जाज्वल्यमाना स्त्री यदा वैरिणीं स्वकीयां प्रति इयं वन्ध्या स्यात् इति कामयति तदा न हि तत्र किञ्चिद् आश्चर्यं स्यात् (७/३५) प्रतिहिंसायाः अयम् उग्रभावः उग्राद् उग्रतमो भवति यदा कश्चिद् जनः स्ववैरिणं क्लीबं कर्तुं पुरभेत्तारम् इन्द्रम् अण्डभेतारं कर्तुम् इच्छति। यथा कटनिर्माणार्थं स्त्रियः नरकटघासं (तृणविशेषम्) शिलायां स्थापयित्वा कट्टयन्ति (चूर्णयन्ति) तथैव स जनोऽपि शत्रोः अण्डकोशं शिश्नं च सञ्चूर्णीकृत्य तं निर्वीर्यं कर्तुम् अभिलषति ।

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि। अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्वाण्ड्यौ॥२॥

यथा नडं कुशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना। एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः॥४॥

(अ.शौ.सं. ६/१३८/२-५)

इयं तु प्रतिहिंसायाः सहजाभिव्यक्तिर्वर्तते। किन्तु नवविवाहितवरवध्वोः गर्भादानकर्मणो वर्णनमपि अथर्ववेदीयः ऋषिः निःसङ्कोचभावेन नैसर्गिकरूपेण करोति। यस्योल्लेखः उपरि लिखितविवाहसंस्कारविषये कृतो वर्तते। अथर्ववेदस्य भाषायां प्रसादपूर्णपद्धत्याः तथा च उपमारूपकादीनाम् अलङ्कराणां च स्वाभाविकः प्रयोगः यत्र – तत्र दृश्यते। अनया दृष्ट्या भूमि-वर्षा-रात्र्यादीनि सूक्तानि विशेषेणोल्लेखनीयानि सन्ति।

भारतीयलोकसंस्कृतेः अक्षुण्णपरम्परायाः प्राचीनतायाश्च ज्ञानमपि अथर्ववेदस्यानुशीलनेन यथावद् पर्याप्तं च भवति। अथर्ववेदे वर्णिताः नैके लोक-विश्वासाः अद्यावधि भारतीयलोकमानसे समाच्छन्नाः दृश्यन्ते। मन्त्र-तन्त्रम् अदृश्यबाधानिवारणम् (झाड़ फूँक), यन्त्रसम्पुटाः (गण्डा- ताबीज), इन्द्रजालोऽभिचारो वा (जादूटोना), शकुनापशकुनम्, गन्धर्वाप्सरसः, भूतपिशाचाः, स्वर्गनरकम्, पाप-पुण्यम् इत्यादयः अद्यत्वेऽपि भारतीयलोकसंस्कृतेः स्व - स्व स्थानं सुतराम् आवहन्ति। इह लेशमात्रोऽपि

सन्देहो न वर्तते यत् वैदिककालीनभारतीयलोकसंस्कृतेः अध्ययनार्थम् अथर्ववेदः एकः प्राचीनतमो बृहत्तमश्च विश्वकोशो वर्तते इति।

सन्दर्भग्रन्थसूची

प्राथमिकस्रोतस्काः

१. **अथर्ववेदः** (शौनकीयः) (सायणाचार्यकृतभाष्यसंयोजितः), (सम्पा.) मण्डन मिश्रः, दिल्लीः श्री लालबहादुरराष्ट्रिय संस्कृतविद्यापिइठम्, १९८६ ।

२. **अथर्ववेदभाष्यम्** (दामोदरसातवलेकरकृतसुबोधभाष्यम्), (सम्पा.) दयानन्द अर्पण, नई दिल्लीः विश्वमानवोत्थानपरिषदः, २००५ ।

३. **अथर्ववेदसंहिता** (हिंदी अनुवाद), आर्य सा. मंडल,अजमेर :सं.२०१२ ।

४. शर्मा, रामस्वरूप गौड़, **अथर्ववेदसंहिता** , (सायणभाष्यसहिता), (हिन्दीभाषानुवादसम्वलिता) , वाराणसी, १९९० ।

५. **अथर्ववेदसंहिता**, औंध : स्वाध्याय मण्डल, १९४३ ।

६. **अथर्ववेदसंहिता**, अजमेर : वैदिक यन्त्रालय, (सम्वत्) २००१ ।

७. **अथर्ववेदः** (शौनकीयः). चौखम्बा, वाराणसी, अज्ञात वर्ष ।

८. **शौनकीयाथर्ववेदसंहिता** (मूलपाठः), (सम्पा.) दीपचन्द, दिल्ली: देववाणीप्रकाशन, १९७८ ।

९. **अथर्ववेदसंहिता** (सनातनभाष्यसंवलिता), दिल्ली: माधवपुस्तकालय, १९७७ ।

१०.**अथर्ववेद** (हिन्दीभाष्योपेता), (सम्पा. एवं व्या.) गोपालप्रसादकौशिक, वाराणसी: चौखम्बाप्रकाशन, अज्ञातवर्ष ।

११.**अथर्ववेद** (हिन्दीभाष्योपेता), (सम्पा. एवं व्या.) माधवाचार्य, वाराणसी: चौखम्बाप्रकाशन, अज्ञातवर्ष ।

१२.**अथर्ववेदसंहिता** (हिन्दीसारांशोपेता), (सम्पा. एवं व्या.) श्रीरामशर्मा आचार्य, वाराणसी: चौखम्बाप्रकाशन, अज्ञातवर्ष ।

१३.**अथर्ववेदमुनिभाष्य**, (भाष्यकार) स्वामीब्रह्ममुनि, नई दिल्ली: सार्वदेशिका आर्य प्रतिनिधि सभा, अज्ञात वर्ष ।

१४.Griffith, Ralph, T.H. **Hymns of the Atharvaveda**. Munsihram Manoharlal, New Delhi, 1985.

१५.Whitney, William Dwight, **Atharvaveda-Samhita.** Motilal Banarsidass, Delhi,1984.

द्वितीयकस्रोतस्काः

१. **ऋग्वेदः** (स्कन्दस्वाम्युद्गीथीयभाष्याभ्यां वेङ्कटमाधवीय व्याख्यया सायनाभाष्यनुसारिणिमुद्गलीया वृत्या समवेतः), (सम्पा. मण्डल) विश्वबन्धुः एवमन्यः, होशियारपुरम्; विश्वेश्वानन्द वैदिकशोधसंस्थानम्, (सम्वत्) २०२२।

२. **ऋग्वेदसंहिता** (सायणाचार्यविरचित माधवीयवेदार्थप्रकाशसहिता), (सम्पा.) मोक्षमूलर भट्टः, वाराणसीः चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, (द्वि.सं.) १९८५।

३. **शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिता** (सायणभाष्योपेता), सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः वाराणसी, १९७८।

४. **ऋग्वेदभाष्यम्** (दयानन्द सरस्वती) (सम्पा.) दयानन्द अर्पण, नई दिल्लीः भगवती लेजर प्रिंटस, २००४।

५. **यजुर्वेद-भाष्य-संग्रहः** , (सम्पा.) युधिष्ठिर मीमांसक, बडौदाः आर्य कुमार महासभा, (सम्वत्) १९६० ।

६. ***ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका*** , दयानन्दसरस्वतीकृता, अजमेर : वैदिक यन्त्रालय।

७. *ध्वन्यालोकः*; (व्या.) बदरीनाथ शर्मा, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, २०१४।

८. *काव्यादर्शः*; (व्या.) रंगाचार्य रेड्डी शास्त्री, पुणे: भण्डारकरप्राच्यविद्यामन्दिर मुद्रणालय, १९३८।

९. *कुमारसंभवम्*, (व्या.) प्रद्युम्न पाण्डेय, वाराणसी: चौखम्बा विद्या भवन, २०१६।

१०. *भोजप्रबन्धः*; (व्या.) सनाढ्य शास्त्री, वाराणसी: चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, १९७९।

११. *वाल्मीकिरामायणम्*, (व्या.) राजपाल कुमार, राजपाल एण्ड सन्स,२०१४।

१२. *वैयासिकमहाभारतम्*, (व्या.) सूर्यकान्त त्रिपाठी, मेधा पब्लिसिं हाउस्, २०१४।

१३. *विक्रमोर्वशीयम्*, (व्या.) परमेश्वरदीन पाण्डेय, वाराणसी: चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन, २०१६

१४. *शिशुपालवधम्*, (व्या.) अनन्तराम शास्त्री, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, १९८५ ।

समीक्षाग्रन्थाः

१ लाल, कृष्ण, *अथर्ववेद सम्बन्धी अध्ययन का इतिहास,* Historical studies on Atharvaveda, (Ed.) Suryakant Bali, New Delhi: Nag Publishers, 1981.

२ कुमार, शरद, *अथर्ववेद के प्रमुख कवियों का परिचय,* Historical studies on Atharvaveda, (Ed.) Suryakant Bali, New Delhi: Nag Publishers, 1981.

३ आर्यमुनि, *आर्यमन्तव्यपरीक्षा,* वेदवाणी २९, पृ. ३- १०३, १९७६ ।

४ स्वरूप, भगवान्, *ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य,* परोपकारी १२ (३), पृ. ७- ८, १९७१।

५ मालवीय, माया, *अथर्ववेदीयशान्तिपुष्टिकर्माणि,* वाराणसी : अज्ञातप्रकाशक, १९६७ ।

६ त्रिवेदी, मातृदत्त, *अथर्ववेद : एक साहित्यिक अध्ययन,* होशियारपुर : विश्वेश्वरानन्दवैदिकशोधसंस्थान, १९७३ ।

७ त्रिपाठी, राधावल्लभ, *संस्कृत कविता में लोक जीवन,* दिल्ली : यश पब्लिकेशन्स, २०१०।

८ उपाध्याय, कृष्णदेव, *लोकसंस्कृति की रूपरेखा,* इलहाबाद : लोक भारती प्रकाशन, २०१४।

९ मिश्र, जयशंकर, *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,* पटना : बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९८३ ।

१० द्विवेदी, हजारीप्रसाद, *प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद,* नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९६३ ।

११ हबीब, इरफान ; ठाकुर, विजय कुमार, *वैदिक काल,* दरियागंज, नई दिल्ली : राजकमल, २०१६।

१२ शर्मा, निगम, *ऋग्वेद में काव्य तत्व*, दिल्ली : परिमल पब्लिकेशन्स, १९९८।

१३वेदालङ्कार, रामनाथ, *वेदों की वर्णन शैलियाँ*, हिण्डौनसिटि, (राजस्थान) : श्री घूडमल प्रह्लाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, २००८।

१४मिश्र, हरिमोहन, *वैदिक कविता*, पटना : अनुपम प्रकाशन, १९७८।

१५शर्मा, रश्मि, *नैषधचरित में बिम्ब-विधान*, दिल्ली : इन्दु प्रकाशन, १९९३।

१६श्री अरविन्द, *वेदरहस्य*, (सम्पा.) वेदालङ्कार जगन्नाथ ; विद्यालङ्कार, अभयदेव, पाण्डुचेरी : श्री अरविन्द आश्रम, १९७१, पञ्चम सं. २००९।

१७ गौतम,सुदेश,*अथर्ववेद एवं स्मार्त संस्कृति*, दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, २०११।

१८ चौबे, व्रजबिहारी, *वेद व्याख्या की दिशाएँ*, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, २००६।

१९ द्विवेदी, कपिलदेव, *वैदिक साहित्य एवं सम्स्कृति*, होशियारपुर : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी : २००४।

२० कुमार, सुरेन्द्र, *वैदिक आख्यानों का वैदिक स्वरूप*, रोहिणी, नईदिल्ली : सत्यधर्म प्रकाशन, २००४।

२१ सिद्धान्तालङ्कार, सत्यव्रत, *वैदिक संस्कृति का संदेश*, नई सड़क दिल्ली : विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, १९९८।

२२ विद्यालङ्कार, सत्यकेतु, *भारतीय संस्कृति का विकास*, सफ़दरजंग, नई दिल्ली : श्री सरस्वती सदन, १९९०।

२३ मीमांसक, युधिष्ठिर, *वैदिक छन्दो मीमांसा*, हरियाणा : रामलालकपूर ट्रस्ट, २००९।

२४ गुप्ता,नीलिमा,*भारतीय लोक कला* (छत्तीसगढ़ के सन्दर्भ में), दिल्ली: स्वाति पब्लिकेशन, २०१०।

२५ सराफ,रामकृष्ण,*संस्कृतिचिंतनम्*,(निबन्ध संग्रह), भोपाल : आदित्य प्रकाशन, २००३।

२६ त्रिपाठी ,भास्कराचार्य,*अक्षरा*,नाग पब्लिशर्स,दिल्ली :२००५।

२७ गुप्त, देवेन्द्र कुमार, *सूत्र साहित्य में वर्णित भारतीय समाज एवं संस्कृति*, दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, २०१०।

२८ ओझा,शिवकुमार,*भारतीय संस्कृति की महानता और विलक्षणता*, दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, २०११।

२९ जैन, प्रदीप कुमार ,*भारतीय संस्कृति*, अशोक विहार ,दिल्ली : राहुल पब्लिशिंग हाउस,

१९९४।

३० जैन, प्रदीप कुमार ,*भारतीय संस्कृति का इतिहास*, अशोक विहार, दिल्ली : राहुल पब्लिशिंग हाउस, १९९४।

३१ सिंह, श्याम नारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार विधि* , दिल्ली : स्वति पब्लिकेशन, २००५।

३२ पाठक,नीलिमा, *वैदिक समाजनीति, राजनीति एवं अर्थनीति*, दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, २०१५।

३३ सक्सेना, प्रवेश, *वैदिक समाज, संस्कृति और विज्ञान* , दिल्ली : जे. पी. पब्लिशिंग हाउस, २०११।

३४ (संपादक) कुमार, शशिप्रभा, *भारतीय संस्कृति: विविध आयाम*, दिल्ली : विद्यानिधि प्रकाशन, २००५।

३५ तनेजा, कामिनी, *वैदिक सूक्तमञ्जरी*, दिल्ली : विद्यानिधि प्रकाशन, २००८।

३६ गौतम, सुदेश, *अथर्ववेद एवं स्मार्त संस्कृति*, दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, २०११।

३७ द्विवेदी, कपिलदेव, *अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन*, भदोही: विश्वभारती अनुसन्धान परिषद, २०१२।

३८झा, सुखेश्वर, *लोक भाषा संस्कृत*, दिल्ली : ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स, २०१५।

३९Insler, Stanley. On the recensions of the Atharvaveda and Atharvan hymn composition. International workshop on Vedic Studies. Harvard University, June 89.

४०Mishra, R.C. *The extant Atharveda-shakhas and their area of circulation*. 31 Proceedings of the All-India Oriental Conference, BORI, Poona, 1984.

४१Narang, Satya Pal, *Textual notes on the Atharvaveda*. Historical studies on Atharvaveda, (Ed.) Suryakant Bali, New Delhi: Nag Publishers, 1981.

४२Choudhuri, Usha, *Myth, Magic & Poetry in the Atharveda*. Historical studies on Atharvaveda, (Ed.) Suryakant Bali, New Delhi: Nag Publishers, 1981.

४३Kumar, Pushpendra, *Female Deities in the Atharvaveda.* Historical studies on Atharvaveda, (Ed.) Suryakant Bali, New Delhi: Nag Publishers, 1981.

४४Sharma, R.N., *Society in the Atharvaveda.* Historical studies on Atharvaveda, (Ed.) Suryakant Bali, New Delhi: Nag Publishers, 1981.

कोषग्रन्थाः

४५. **अमरकोष** (रामाश्रमी व्याख्या विभूषितः) (सम्पा.) शास्त्री, हरगोविन्द, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, (सम्वत्) २०२६ ।

४६. **शब्दकल्पद्रुम: ,स्यार राजा राधाकान्तदेव बहादुरेण विरचित:** , सं. वसुना,वरदा प्रसाद, वसुना, हरिचरण, दिल्ली : नाग पब्लिशर्स, १९८७, (चतुर्थ संस्क.) २०१५ ।

४७.आप्टे, वामन शिवराम, **संस्कृत-हिंदी-कोश,** दिल्ली : नाग पब्लिशर्स, २०१२ ।

४८. **दयानन्द-सन्दर्भ-कोष** (महर्षि दयानन्द के समग्र साहित्य पर आधारित), शास्त्री, ज्ञानप्रकाश, दिल्ली : परिमल, पब्लिकेशन्स , २०११।

४९. उपाध्याय, चंद्रशेखर, एवं उपाध्याय, आनिल, **वैदिक-कोश** दिल्ली : नाग पब्लिशर्स, १९९५ ।

५०. शास्त्री, ज्ञानप्रकाश, **वैदिक निर्वचन कोष**: दिल्ली : परिमल पब्लिकेशन्स , २०११ ।

५१.शास्त्री, ज्ञानप्रकाश,**यजुर्वेद-पदार्थ-कोष**, परिमल, पब्लिकेशन्स , दिल्ली :२००९|

५२. गौतम,सुरेश,एवं गौतम, वीणा, **भारतीय लोक साहित्यकोश**, दिल्ली : संजय प्रकाशन, २००९।

५३. आप्टे, वामनशिवराम, **संस्कृत हिन्दी कोश**, सं. वाराणसी : चौखम्भा विद्या भवन, २०१६

५४. Dandekar, R.N., Some Aspects of the History of Hinduism, Poona : University of Poona, 1989.

५५. Dandekar , R.N., Vedic Bibliography, Government Oriental Series Class B , No.17, Bandarkar Oriental Researcha institute , Poona : 1993.

पत्रिकाः

१. JGNJKSV –(गंगा नाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ) : इलाहबाद

२. PJ - (प्राची ज्योति) : कुरुक्षेत्र वि.वि.

३. SAMBODHI - (सम्बोधि) : अहमदाबाद

४. VOS – (Voice of Shankar) : चेन्नई

५. Prabuddha Bharat : बेलूरुमठ